प्रकाशकीय :—

ग्रन्थ-जन्म —पालीताणा, अंधेरी, नासिक, अहमदनगर, इत्यादि स्थानों में विद्यार्थीगण को पू० पं० श्री भानुविजयजी महाराज ने जैन तत्त्वज्ञान की शिक्षा दी। पूज्य पंन्यासजी महाराज की समझाने की शैली अत्यन्त सरल सुबोध व रोचक थी और विद्यार्थीगण को ऐसी कुञ्जी बताते थे कि जिससे विशाल विषय भी शीघ्र समझ व ग्रहण हो सकता था। फलत अल्प समय मे कई विषयों का ज्ञान करवाया और सबको ऐसी तत्त्वज्ञान पुस्तक की बहुत आवश्यकता हुई। पिण्डवाडा के युवक विद्यार्थियों ने ८०० ६०० प्रति नोंध करवाई जिससे पू० पन्यासजी महाराज ने 'जैन धर्म का सरल परिचय' पुस्तक शीघ्र तैयार की। जिसे प्रकाशित करने में अत्यन्त हर्ष होता है।

ग्रन्थ-विषय —इसमें जैन धर्म की प्राचीनता, तत्त्वप्रवेश, धर्म-परीक्षा, विश्व, आत्मसिद्धि के प्रमाण, षड्द्रव्य, पर्याय, नौ तत्त्व, आत्मा का मौलिक व विकृत स्वरूप, विश्व-जीवों के भेद शक्ति पर्याप्ति-योग-उपयोगादि, पुद्गल वर्गणा, मिथ्यात्व कपायादि आश्रव, विस्तृत-कर्म विचार, प्रारम से लेकर शैलेशी तक का मोक्ष मार्ग, श्रावक-साधु धर्म, दिन-पर्व-वार्षिकादि कर्तव्य, १२ व्रत-नियमादि, सवर-निर्जरा साधना, आत्मविकास के १४ गुणस्थानक, प्रमाण नय-स्याद्वाद, जैन-शास्त्र आदि का सरल परिचय दिया गया है।

ग्रन्थ-उपयोगिता —जैन जैनेतर सब के लिए यह विश्व-तत्त्वों का दीपक ग्रन्थ है। पाठशाला व ग्रीष्मादि अवकाश सत्रों में यह ग्रन्थ

प्रस्तावना

लेखक —मास्टर जसराजजी सिंघी M A B FD
(आंग्लभाषा के वरिष्ट अध्यापक राजकीय उच्चतर
माध्यमिक शाला, पिण्डवाडा)

सखेद आश्चर्य है कि भारत को अवनति के गर्त में घसीटने का दोष कई बातों को दिया जाता है, जिनमें एक धर्म भी बताया जाता है। बहुधा सुनते है कि 'धर्म ने भारत का जितना अहित किया है, उतना शायद ही किसी ने किया होगा।' इसका परिणाम यह हुआ है कि आज भारत धर्म-निरपेक्ष राज्य बना हुआ है।

धर्मच्युत होकर हमने प्रगति की है, अथवा पूर्व से अधिक हम अवनत हुए हैं, यह तो पाठक स्वयं सोच सकते है। मेरी समझ से तो मैं कह सकता हूँ कि हमारा अनर्थ धर्म ने नहीं बल्कि सारा अनर्थ धर्म की अज्ञानता और धर्म के विरुद्धाचरण ने किया है।

हम स्वतंत्र हुए। देश को उन्नत बनाने की हमने योजनायें बनाई। देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये हमने विभिन्न दिशाओं में कदम उठाये। औद्योगीकरण का हमने शंखनाद किया। सबको समानाधिकार दिये। स्थान २ पर शालाएं खोलीं, औषधालय स्थापित किये, विकास खंड बनाए, कल कारखाने बढाये,

भी अपने आत्म स्वरूप को जैसे भूल जाता है, वही स्थिति आत्मा की है। सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप को भूल चुके हैं। विनश्वर देह को ही सर्वस्व मान रहे हैं, उसे सुखी बनाने के कई अयोग्य साधन जुटा रहे हैं, क्यों कि पता नहीं है देह द्वारा या देहसुख के लिये किये गए कर्मों का फल आत्मा को न मालूम कितने भवों तक भोगना पड़ेगा। हम भूल रहे हैं कि धन लौलुपता व विषयाभिलाषा मधुलेपित खड्ग तुल्य है, विष मिश्रित अन्न तुल्य है। आत्मा के साथ न देह जाती है, न परिवार के लोग जाते हैं। महान् चक्रवर्ती भी रिक्तहस्त गए, अपने साथ धागे का टुकड़ा भी नहीं ले जा सके। यदि कुछ साथ जाता है तो वह है पुण्य और पाप, धर्म अधर्म। फिर भी दैहिक एवं भौतिक सुख की उन्मत्तता के कारण आज सर्वत्र हिंसा ही हिंसा का बोलबाला है। दिन प्रतिदिन मत्स्योद्योग, कत्लखाने, मक्खि वगैरह अनेक जीवगण का नाश, मांसाहार को प्रोत्साहन मिलता जा रहा है।

प्रतिवर्ष मूक पशुओं एवं जीवों की हिंसा में वृद्धि होती जा रही है, पर भूख और निर्धनता तो ज्यों की त्यों मुंह बाए खड़ी है। भिखमंगों एवं बेकारों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जा रही है। धन के लिये संघर्ष चल रहा है। ऐसी क्रूरता और हिंसा से बचने के लिये जगत के स्वरूप को समझना परमावश्यक है। जैन धर्म हमें बताता है कि जगत् जड़ वस्तु ही नहीं चेतन भी है। यह चेतनता मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है, परन्तु इसका क्षेत्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटाणु, वनस्पति, वायु, अग्नि, पानी आदि के जीव तक भी व्यापक है। सुख दुःख

का अनुभव एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जीवों को होता है। हमें हिंसा से दूसरे को उतनी ही पीड़ा होती है जितनी हमें हमारी हिंसा होने पर। जैन धर्म हमें सिखाता है कि सुख और दुःख की अनुभूति सभी जीवों को समान रूप से होती है। इस पुस्तक में जीवतत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश दिया गया है।

जैन धर्म का कर्मवाद भी हमारा बड़ा उपकार करता है। आज जो निर्धनों और धनिकों में, स्वामी और नौकर में, नारी और पुरुष में, गुरु और शिष्य में, पति और पत्नी में, पुत्र और पिता में स्वत्वाधिकार का द्वन्द्व चल रहा है वे सब कर्मवाद की अज्ञानता के कारण। यहाँ भी हम अपने आपको अंध की दुनिया में बन्द कर देते हैं और यह भूल जाते हैं कि हम कौन हैं। अपने २ कृत कर्मों का फल सब को भोगना ही पड़ता है। यदि इतनी सी सरल बात हम समझ लें तो हमारे द्वेष, वैमनस्य कलह आदि दोष की इति हो जाय।

इतना ही नहीं बल्कि जैन धर्म का कर्मवाद हमें पुरुषार्थ करने के लिये प्रेरित भी करता है। वह हमें कर्मों को काटने के और नवीन कर्मों को रोकने के उत्तम उपाय भी बताता है। इस छोटी पुस्तक में कर्म-सिद्धान्त सविस्तार सुगम कर दिया गया है।

जैन धर्म की अन्य विशेषता है स्याद्वाद। हमारा देश नैतिक रूप से समृद्ध होते हुए भी यहां हर वस्तु का एकांगी दृष्टि

गोचर होता है। यह वैभव में निर्धनता शोकजनक है। परन्तु भौतिक वस्तुओं को बढ़ा २ कर हम आवश्यकताओं को नहीं मिटा सकते। उसका एक मात्र उपचार है आवश्यकताओं को सीमित करना, कम करना, असन्तोप का स्थान सन्तोप को देना। साधु-धर्म या श्रावक के आचार का पालन कर के ही हम अभाव का अभाव कर सकते हैं। इस पर विशद व प्रेरक विवेचन इस ग्रंथ में है।

जैन धर्म की नाना विशेपताओं में एक है उसका अनेकान्तवाद या स्याद्वाद। साम्प्रदायिक झगड़ों पारस्परिक वैमनस्यों को मिटाने में भी इसका बड़ा भारी योग होता है। पारस्परिक मनमुटावों के कई कारण हो सकते हैं परन्तु उनमें से एक एकान्तवाद भी है। अनेकान्तवाद से दूसरों को समझने का प्रयास करें, दूसरों के प्रति विशाल हृदयता रक्खें, सहिष्णुता दिखायें तो देश की प्रगति में वाधा डालने वाले भापावाद, भाई-भतीजावाद, प्रान्तीयता के झगड़े, शिक्षित—अशिक्षितो के झगड़े बड़ी सरलता से सुलझाए जा सकते हैं।

तो आवश्यकता है जैन धर्म का परिचय पाने की। प्रस्तुत पुस्तक में आत्मा, उसकी उन्नति-अवनति, विश्व, उसका सचालन, जीव के प्रकार, स्वरूप, अजीव, पुण्य-पापादि तत्त्व, कर्म के भेद, प्रारम्भ से लेकर मुक्ति तक का साधना-मार्ग, सम्यग् दर्शन, श्रावकधर्म साधुधर्म, प्रमाण-नय-स्याद्वाद आदि जटिल विपयों का सरल एव सुबोध परिचय दिया गया है। प्रस्तुत पुस्तक को पढ़कर हम धर्म सबधी नाना भ्रान्तियों

को दूर कर सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान व भौतिक वाद में फंसे
हुए युवकों के लिए सच्चा मार्गदर्शन इस पुस्तक में हुआ है।
विषय गुरु एवं बुद्धिजीवियों के अनुकूल होते हुए भी बड़े ही मनो-
वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। स्थान २ पर मनोवैज्ञानिकों एवं
उदाहरणों द्वारा विषय को और भी सरल कर दिया गया है। अपनी
सरलता और सरसता के कारण प्रस्तुत पुस्तक सार्वोपयोगी सिद्ध हो
सकती है जिसमें तनिक संदेह नहीं है। आशा है पाठक गण इससे
संपूर्ण लाभ उठाने में समर्थ होंगे।

परमतेज'

(गुजराती ललितविस्तरा विस्तार)

श्री ललितविस्तरा महाशास्त्र पर पू. पंन्यास भानुविजयजी गणी द्वारा
१ मास सुधी विस्तारथी वाचना थई। वाचनाने व्यवस्थितपणे
व्यवस्थित करी ने समग्र प्रकाशित करवानुं निश्चित थयुं। पहेलो भाग
बहार पडेलो छे (कि. रु. ६) जेमां धर्मनो अधिकारी, [illegible]
प्रक्रिया, अरिहंत परमात्मा तथा चैत्यवन्दननी विशिष्टताओ, आत्म उत्थान
अने विशुद्धध्यान आभ्यन्तर साधनाना मार्ग योग ध्यान, वगेरे
विषयो विस्तारथी समजाव्या छे।

वाचना पन्यासजीनी वाणी [illegible] तत्त्वज्ञान आलम्बनमां ऊंडा
होइए एम लागे छे। पछी मायाना अनेक प्रकार ना विश्लेषण संसार,
आत्मध्यान अने कषायादि शांत थई जाय छे। बीजो भाग प्रेसमां छे।

विषय–अनुक्रम

कमसाहित्यनिष्णात, चारित्ररत्नखान, गच्छाधिपति गुरुदेव सिद्धान्त-
महोदधि पूज्य आचायदेव श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज
साहब के कर-कमलों में यह ग्रन्थरत्न का सादर समपण ।
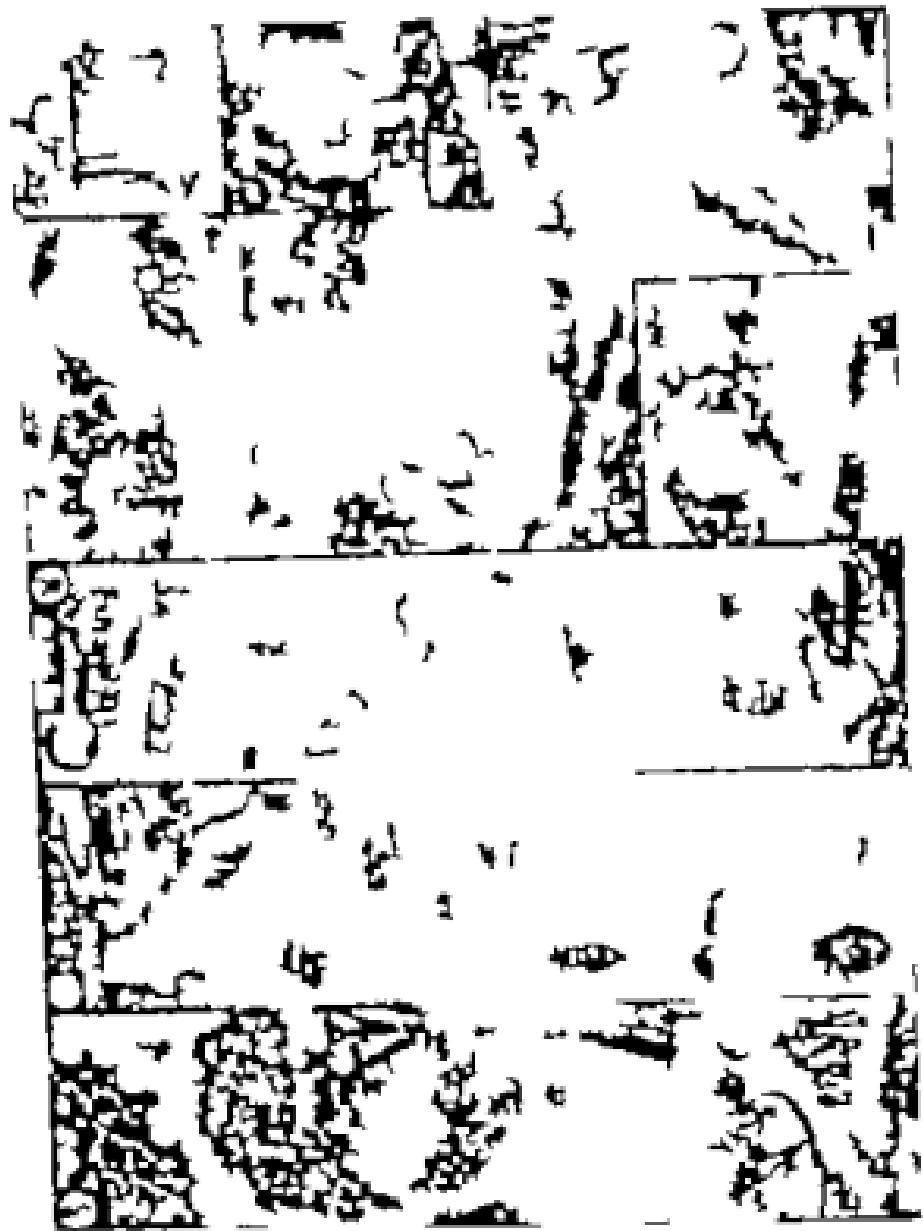
समपक शिष्याणु भानुविजय

नोट जीव विचार [पाछल जुओ] विवरण जुओ पृ॰ ४४

कर्म की ८ मूल प्रकृति : बादल की उपमा : विवरण देखें पृष्ठ ६२

नव तत्त्व : विवरण देखें पृष्ठ २५

॥ अर्हम् ॥

卐
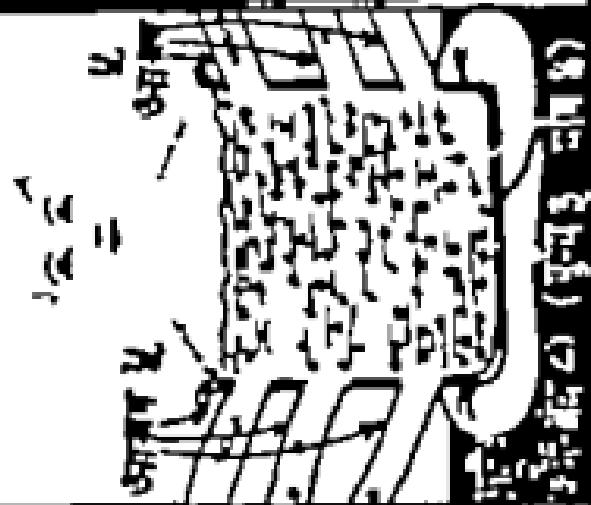
जैनधर्म अतिप्राचीन है।

जैनधर्म अन्य सभी धर्मों की अपेक्षा पुराना है यह बात वेद-पुराण उपनिषद्, एवं भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के मन्तव्यों से सत्य सिद्ध हो चुकी है। 'जैनधर्म और इसकी प्राचीनता' नामक पुस्तक की प्रस्तावना में पं० श्री अंबालाल लिखते हैं कि,—

"बौद्धधर्म ढाई हजार साल पहले ही प्रगट हुआ है। इतना ही नहीं गौतम बुद्ध ने जैन मुनि होकर जैन सिद्धान्तों का अनुभव किया था। जैन सिद्धान्तों में उपदिष्ट तपस्याओं की पराकाष्ठा से उद्विग्न होकर उन्होंने मध्यम मार्ग प्रचलित किया, वही बौद्धधर्म के रूप में प्रचलित हुआ यह ऐतिहासिक सत्य है।

हिन्दु धर्मों में मुख्य वेद शास्त्रों की भाषा और उसका अर्थ अब भी गूढ है। टीकाकारों के द्वारा बहुधा अपने इष्ट अर्थ किये जाते हैं फिर भी इनमें अमुक स्पष्ट नाम ऐसे उल्लिखित मिलते हैं कि जो जैनधर्म के तीर्थकरों का सूचन करते हैं। यही परपरा श्रीमद्-भागवत में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। श्री भागवतकार द्वारा जैनधर्ममान्य श्री ऋषभदेव तीर्थकर का चरित्र बहुत स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, और उन्हें हिन्दुओं में मान्य २४ अवतारों में स्थान दिया गया है। इस पर से जैनधर्म की परंपरा का स्पष्ट परिचय मिलता है।

भगवान महावीर के ग्यारह गणधर और बाद के धुरंधर जैनाचार्य जो हुए हैं वे अधिकांश वैदिक शास्त्रों के विद्वान ब्राह्मण ही थे जिन्होंने अपने ज्ञान की अपूर्णता देख उनसे धर्मसंतुष्ट हो जैनधर्म की दीक्षा का स्वीकार किया था। यह वस्तु स्थिति जैनधर्म के प्रति किसी की भी श्रद्धा दृढ़ कर सके ऐसी है।"

★ ★ ★

इसी *'जैनधर्म और इसकी प्राचीनता'* नामक पुस्तक में इसके विद्वान लेखक-संपादक पं. श्री सुशीलविजयजी गणिवर्य लिखते हैं कि.–

विश्व में अनेक धर्म प्रचलित हैं, इनमें जैनधर्म का स्थान अपूर्व है। इसकी प्राचीनता सनातनता अनादि की है। जिस प्रकार संसार अनादि अनन्त है उस प्रकार जैनधर्म भी अनादि अनंत है।

विश्व में विविध धर्म अपने मुख्य मुख्य व्यक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। बौद्धधर्म गौतमबुद्ध नाम के व्यक्ति से क्रिश्चियन धर्म क्रिस्त क्राइस्ट नाम के व्यक्ति से शैवधर्म शिव नामक व्यक्ति से वैष्णव धर्म विष्णु नामक व्यक्ति से—किन्तु जैनधर्म ऋषभ नाम के व्यक्ति से पार्श्वनाथ के व्यक्ति या महावीर नाम के व्यक्ति से ऋषभ धर्म पार्श्वधर्म अथवा महावीरधर्म के रूप में प्रसिद्धि नहीं पाया है। जैनधर्म यह गुणनिष्पन्न नाम है। राग-द्वेषादि आभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें वे 'जिन' कहलाते हैं, 'जिनों' के द्वारा प्ररूपित हो वह 'जैन' और जैन ऐसा धर्म वह 'जैन धर्म'।.........

जैनधर्म के अन्यान्य नाम 'आर्हतदर्शन' अथवा 'आर्हद्दर्शन' 'स्याद्वाद या अनेकान्तदर्शन' 'वीतरागदर्शन या जैनदर्शन' कहिए 'जैन शासन' या 'जैनमत' कहिए,-ये सब जैनधर्म के पर्यायवाचक हैं।....

अन्य धर्मों की अपेक्षा जैनधर्म की विशिष्टता–सर्वोत्कृष्टता प्रसिद्ध है। समुद्र में जैसे सब नदियां समाविष्ट होती हैं वैसे ही

जैनधर्म में सभी दर्शनों का समन्वय समवतार होता है। जब कि अन्यान्य दर्शन एकैक नय का आश्रय कर प्रवर्तमान हुए हैं, तब जैन दर्शन सातों नयों से गुम्फित है।

न्यायविशारद न्यायाचार्य महामहोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज 'अध्यात्मसार' में लिखते हैं कि बौद्धदर्शन 'ऋजुसूत्र' नय में से निकला, वेदान्ती एवं सांख्यों का दर्शन 'संग्रह नय से, नैयायिक वैशेषिक मत 'नैगम' नय से, मीमांसक' मत 'शब्द'नय में से निकला है। जैनदर्शन सभी नयों से गुम्फित है।

जैन दर्शन की सूक्ष्मतम कर्मपद्धति, सूक्ष्मतम सिद्धान्तगण, ९ तत्त्व, ४ अनुयोग, ४ निक्षेप, सप्तभङ्गी, सप्तनय, अनेकान्तवाद, अहिंसा-संयम-तप, योग महाव्रतों का सूक्ष्म रीति से परिपालन इत्यादि तक पहुँचने में अन्य कोई भी दर्शन अद्यावधि समर्थ नहीं हुआ है। करोड़ों अब्जों के द्रव्यव्यय से जितने आविष्कार हुए हैं उनके परिणाम जैन सिद्धान्त की मान्यताओं को अनुरूप ही हुए हैं। आण्विक सिद्धान्त इसका जीवत जाग्रत् उदाहरण है। इसीलिए जगत के बड़े वैज्ञानिक, तत्त्वज्ञ, धुरन्धर पंडित और देश देशान्तर के उच्च अधिकारी वगैरह भी जैन धर्म की मुक्त कंठ से प्रशंसा कर रहे हैं।

विश्व के धर्मो में सर्वाङ्ग संपूर्ण कोई भी धर्म हो तो वह जैन धर्म है। भयङ्कर युद्ध के मार्ग पर प्रस्थित राष्ट्रों को विश्वशान्ति का राह बता सके ऐसी क्षमता रखने वाला मार्ग जैनधर्म के सिद्धान्तों में ही है।

कई कितने एक पाश्चात्य विदेशी विद्वान और साक्षरों के द्वारा जैनधर्म को अन्य धर्म की शाखा रूप मान कर विवेचन किया गया था और वर्तमान हाईस्कूल आदि में उस बात का अब भी पिष्टपेषण किया जाता है, लेकिन जैनधर्म का बहुत गहरा अध्ययन करने पर

सत्य वस्तु (जैनधर्म की स्वतन्त्रता एवं प्राचीनता) स्पष्ट हो जाती है।

जैनधर्म की अति प्राचीनता के प्रमाण और "जैनधर्म वेदों एवं पुराणों से पहले भी था" इसके प्रमाण यहाँ दिए जाते हैं —

● 'शिवपुराण' में लिखा है कि—"केवलज्ञान के द्वारा सर्वव्यापी, कल्याण स्वरूप सर्वज्ञाता ऋषभदेव जिनेश्वर कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर उतरे"।

● 'ब्रह्मपुराण' कहता है,—"नाभिराजा की मरुदेवी रानी से मनोहर क्षत्रियों में श्रेष्ठ और समस्त क्षत्रियवंश के पूर्व ऐसे ऋषभ नाम के पुत्र हुए।... —इस भारतभूमि में ही इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न नाभिराजा और मरुदेवी के पुत्र महादेव श्री ऋषभनाथ ने दस प्रकार का धर्म स्वयं स्वीकार किया, और केवलज्ञान पाकर इसका प्रचार किया"।

● 'प्रभासपुराण' में लिखा है—"रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादि विमलाचले। ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥" (रैवत गीरनार-पर्वत पर नेमिजिन हैं; विमलाचल पर युगादि-ऋषभ-जिन हैं ऋषियों का आश्रम से ही मोक्षमार्ग के कारण हैं।)

● 'स्कन्दपुराण' में लिखा है—'प्रभु जब तीर्थ का स्पर्श करने से रैवताचल को नमस्कार और गजपदकुण्ड में स्नान करने से पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता'।

● 'नागपुराण' में कहा है—'६८ तीर्थों में यात्रा करने से जो पुण्य होता है, वह आदिनाथदेव के स्मरण करने से भी होता है।' (श्री ऋषभदेव जिन का दूसरा नाम आदिनाथ भी है।) —"अर्हं नाम है देवि। परम तत्त्व है। जो इसे जानता है वह संसार के बंधन को काट कर परमपद-मोक्ष का मान करता है।

● 'अग्निपुराण' में कहा है—'मरुदेवी से ऋषभ हुए, और ऋषभ से भरत हुए भरत से भारतवर्ष हुआ और इसी भरत से सुमति हुए।'

'ऋग्वेद' ३० अ० में लिखा है:—'आदित्या त्वमसि आदित्य सद आसीत् अस्तभ्रादद्यां वृषभो तरिक्षं जमिमीते वरीमाणं'।

'ऋग्वेद' ३६ अ० ७-३-११ में कहा है:—

'मरुत्वं त वृषभं वावृधानमकवारि दिव्यशामनमिन्द्र विश्वा साहम वसे नूतनायोग्रासदोदा मिहंताह्वयेमः ॥'

'ऋग्वेद' अ० ४, अ० ३, वर्ग में लिखा है:—

"अर्हंता ये सुदानवो नरो असो मिमा स प्रयज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः ॥'

'ऋग्वेद' स० अ० २ अ० ७ व० २७ में कहा है:—

"अर्हन्बिभाषे सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपं अर्हन्निद दयसे विश्वं भवभुवं न वा आगीयो रूद्रत्व दस्ति ॥"

'वृहदारण्यक' में कहा है:—

'नमं सुवीर दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनम् ॥ दधातु दीर्घायुस्त्वाय बलाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय रक्ष रक्ष रिष्टनेमि स्वाहा ॥'

'आरण्यक' में लिखा है.—'ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा भगवता ब्रह्मणा स्वयमेवाचीर्णानि ब्रह्माणितपसा च परं पदम् ॥

'यजुर्वेद' में कहा है:—"ॐ नमो अर्हतो ऋषभो ॐ ऋषभः पवित्र पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परम माह ॥"

ॐ ज्ञातारमिन्द्रं वृषभं वदन्ति अमृतारमिन्द्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिन्द्रमाहुरितिस्वा ॥"

'सामवेद अ ३-खंड १ ११ में कहा है—

'अप्पा हदि मेयवामन रोदसी इमा च विश्वा भुवनानि मन्मना युथेन निष्प वृषभो विराजास ॥

'ऋग्वेद' (१ २ २) १ ४-२१ में लिखा है—

वृषभमक इन्द्रो निर्म्योतिर्या तम सोमा अदुकर् इमस्तोम अहत वातवदसे रथ इस समहेयम ॥

'मनुस्मृति' कहती है—

'मरुदेवी च नाभिश्च,भरते कुलसत्तमाः । अष्टमो मरुदेव्यां तु, नाभेर्जात उरुक्रमः ॥ 'दर्शयन् वर्त्मवीराणां सुरासुरन मस्कृत' । नीतित्रयाणां कर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः' ॥

'भारतवर्ष में सात कुलकर राजाओं में उत्तम मरुदेवी और नाभिराजा हुए । नाभिराजा से मरुदेवी को बड़ा पराक्रमी पुत्र (ऋषभ) हुआ जो वीर पुरुषों का मार्ग बताने वाला व सुरासुर से वंदित व्यवहारनीति राजनीति और धर्मनीति का कर्ता और जो युग की आदि में प्रथम जिन था ।

'योगवासिष्ठ' में कहा है—

"नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु च न मे मनः ।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥"

'मैं राम नहीं मुझे वांछा नहीं, पदार्थों में मेरा मन नहीं जिस प्रकार 'जिन' अपनी आत्मामें शान्तभाव से रहता है उसी प्रकार मैं स्वात्मामें शान्तभाव से रहना चाहता हूँ'

जैन धर्म के विषय में

विद्वानों एवं तत्त्ववेत्ताओं के सुन्दर अभिप्राय

'डॉ० जॉन्स हर्टल' (जर्मनी) कहते हैं—"मैं अपने देशवासियो को दिखाऊगा कि—कैसे उत्तम नियम और ऊंचे विचार, जैनधर्म और जैनाचार्यों में है। जैनियों का साहित्य बौद्धों से बहुत बढ़कर है और ज्यों ज्यों मैं जैनधर्म और उसके साहित्य को समझता हूँ त्यों त्यों मैं उनको अधिक पसद करता हूँ"—इत्यादि॥

'जर्मन डॉ० हर्टल' का मतव्य है—"जैनो के महान् सस्कृत साहित्य को समग्र साहित्य से अलग किया जाए नो संस्कृतकविताकी क्या दशा होवे ?"

'डॉ० हर्मन याकोबी' (जर्मनी) का निश्चित मत है कि—'जैनधर्म पूरे तौर से स्वतन्त्र धर्म है। इस धर्म ने दूसरे किसी धर्म का अनुकरण या नकल नहीं की है।"

'डॉ० ए गिरनाट' (पेरीस) लिखते हैं कि—"मनुष्यों की तरक्की के लिये जैनधर्म का चारित्र बहुत लाभकारी है, यह धर्म बहुत ही असली, स्वतत्र, सादा बहुत मूल्यवान् तथा ब्राह्मणों के मतों से भिन्न है, तथा यह बौद्धों के समान नास्तिक नहीं है।" इत्यादि

'डॉ० रवीन्द्रनाथ टागोर' कहते हैं—"महावीर ने डिंडीम नाद से हिंद में सदेश फैलाया कि धर्म यह वास्तविक सत्य है, कहते आश्चर्य पैदा होता है कि-इस शिक्षा ने देश को वशीभूत कर लिया।"

'डॉ० राजेन्द्रप्रसाद' (भारतीय राष्ट्रपति) की स्पष्ट राय है कि—"श्री महावीरजी के बताये मार्ग पर चलने से हम पूर्ण शान्ति प्राप्त कर सकेंगे। जैनधर्म ने ससार को अहिंसा की शिक्षा दी है, किसी दूसरे धर्म ने अहिंसा की मर्यादा यहा तक नहीं पहुँचाई, जैनधर्म अपने

टी डवल्यु रईस डेव्हिड –"जैनधर्म यह बौद्धधर्म की अपेक्षा भी प्राचीन है।"

श्री वरदकांतजी एम ए —"जैनधर्म का प्रथम प्रचार श्री ऋषभदेव ने किया।"

कर्नल टोड —"भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में जैनधर्म ने अपना नाम अजरामर रक्खा है।"

पं० राममिश्रजी आचार्य, रामानुज "स्याद्वाद यह जैनधर्म का अभेद्य दुर्ग है। इस दुर्ग में वादी और प्रतिवादी के मायामय गोलों का प्रवेश नहीं होता। वेदांत आदि अन्य दर्शन शास्त्रों के पूर्व भी जैनधर्म अस्तित्व में था, इस बारे में मुझे रति भर भी संदेह नहीं।"

रायबहादुर पूर्णेन्दुनारायणसिंह एम ए 'जैनधर्म पढने की मेरी हार्दिक इच्छा है क्योंकि व्यावहारिक योगाभ्यास के लिये यह साहित्य सबसे प्राचीन है। इसमें हिन्दू धर्म से पूर्व की आत्मिक स्वतन्त्रता विद्यमान है, जिसको परम पुरुषों ने अनुभव व प्रकाश में किया है।'

अब्जाक्ष सरकार एम ए बी एल—'यह अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है। जैन दर्शन में जीवन तत्त्व की जैसी विस्तृत आलोचना है वैसी और किसी भी दर्शन में नहीं है।"

वासुदेव गोविन्द आप्टे बी ए-"जैनधर्म में अहिंसा का तत्त्व अत्यन्त श्रेष्ठ है। यति कर्म अत्यन्त उत्कृष्ट है।"

स्त्रियों को भी यतिदीक्षा लेकर परोपकारी कृत्यों में जन्म बीताने की आज्ञा है वह सर्वोत्कृष्ट है। हमारे हाथ से जीवहिंसा न होने पावे इसके लिये जैनी जितने डरते हैं इतने बौद्ध नहीं।

एक समय धर्म, नीति, राजकार्यधुरन्धरता, शास्त्रदान समाजो-

जाति आदि बातों में उनका समता इतर धर्मों से बहुत आगे था।

मुहम्मद हाफिज़ सय्यद बी. ए. एल. टी. थियोसोफिकल हाई स्कूल कानपुर — मैं जैन सिद्धान्त के सूक्ष्म तत्त्वों से गहरा प्रेम करता हूँ।

एम डी पांडे "मुझे जैन सिद्धांत का बहुत शौक है, क्यों कि कर्मसिद्धांत का इसमें सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है।

स्वामी विरूपाक्ष एम ए(प्रो संस्कृत कालेज इन्दौर)"—"जैन के कारण धर्म प्रचार को रोकने वाली विपत्ति के रहते हुए जैनशासन कभी पराजित न होकर सर्वत्र विजयी ही होता रहा है। अर्हन् देव साक्षात् परमेश्वर है।

"अर्हन परमेश्वर का वर्णन वेदों में भी पाया जाता है।"

कन्नूलाल जोधपुरी जैनधर्म एक ऐसा प्राचीन धर्म है कि— जिसकी उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना एक बहुत ही दुर्लभ बात है।"

श्री कुन्दनलाल वर्मन एम ए. उर्दू मासिक पत्र में लिखते हैं—

"महावीर स्वामी का पवित्र जीवन"

हिंदुओ! अपने इन बुजुर्गों की इज्जत करना सीखो ____ तुम इनके गुणों को देखो। वह धर्म कर्म की झलकती हुई चमकती, दमकती मूर्ति है उनका दिल विशाल था समंदर था जिसमें मनुष्य प्रेम की लहर जोरशोर से उठती रहती थी संसार के प्राणी मात्र की भलाई के लिए सबका त्याग किया, वे दुनिया के जबरदस्त रिफार्मर वह हमारी कौमी तवारिख के कीमती रत्न हैं। इनसे बेहतर सच्चे कमाल तुमको और कहां मिलेंगे? । इनमें त्याग था, इनमें वैराग्य था इनमें धर्म का कमाल था इनका खिताब "जिन" है जो नाम भी साफ साफ थी इन्होंने तप जप योग का साधन करके अपने आपको मुकम्मिल (यथार्थ रूप परम स्वरूप को) और पूर्ण बना लिया था ....

इंपिरियल गेझेटियर ओफ इंडिया -"बौद्ध धर्म संस्थापक गौतम बुद्ध के पहले जैन धर्म के अन्य २३ तीर्थंकर हो गये थे।'

योगी जीवानंद परमहंस -"एक जैन शिष्यके हाथ में दो पुस्तक देखे, वे लेख इतने सत्य, निःपक्षपाती मुझे दिख पडे कि मानो दूसरे जगत में आकर खडा हो गया। आबाल्यकाल ७० वर्षों से जो कुछ अध्ययन किया और वैदिक धर्म बांधे फिरा सो व्यर्थ सा मालूम होने लगा प्राचीन धर्म, परमधर्म, सत्यधर्म, रहा हो तो जैन धर्म था। वैदिक बातें कहीं वह ली गई सो सब जैन शास्त्रों से नमूना एकट्ठी करी है।"

युरोपियनविद्वान डॉ० परडोल्ट -'धर्म के विषय में 'जैन धर्म यह निःशंक परम पराकाष्ठावाला है।'

डॉ०राधा विनोदपाल —लिखते हैं कि "अनोखी अहिंसा की भेट जैन धर्म के नियामक तीर्थंकर परमात्माओं ने ही की है।"

न्यायमूर्ति रागलेकर —(बम्बई हाइकोर्ट)कहते हैं, "आधुनिक ऐतिहासिक शोध मे यह प्रकट हुआ है कि यथार्थ में ब्राह्मण धर्म सद्भाव अथवा उसके हिन्दू धर्म रूप में परिवर्तन होने के बहुत पूर्व जैन धर्म इस देश में विद्यमान था।"

फर्लांग साहब मेजर —का कहना है "जैनधर्म के प्रारम्भ को मानना असम्भव है।"

स्वामी राममिश्रजी शास्त्री —कहते है कि "मोहन जो देरो, प्राचीन शिलालेख, गुफाएं, एवं प्राचीन अनेक अवशेष प्राप्त होने से भी जैन धर्म की प्राचीनता का ख्याल आता है। जैन धर्म तब से प्रचलित हुआ है कि जब से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। वेदान्त दर्शन की अपेक्षा भी जैन धर्म बहुत प्राचीन है।"

डॉ एल पी. हेसीटोरी (इटालियन विद्वान) का मन्तव्य है कि "जैन धर्म बहुत ही ऊंची पंक्ति का है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान स्वरूप के आधार पर रचे हुए हैं। ज्यों ज्यों पदार्थ विज्ञान आगे

बढ़ता जाता है त्यों त्यों वह जैन धर्म के सिद्धान्तों को सिद्ध कर रहा है।

श्री आनन्दशंकर ध्रुव —लिखते हैं कि स्याद्वाद एकीकरण का दृष्टि बिन्दु हमारे सामने उपस्थित करता है। शंकराचार्य ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किया है वह मूल रहस्य के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। विविध दृष्टि बिन्दुओं के द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु संपूर्ण रूप में समझ में नहीं आ सकती। स्याद्वाद यह संशयवाद नहीं है किन्तु विश्व का किस प्रकार अवलोकन करना चाहिए यह हमें सिखाता है।

ज्योर्ज बर्नार्ड शॉ—(इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध नाटककार) कहते हैं— जैन धर्म के सिद्धान्त मुझे बहुत ही प्रिय हैं। मेरी यह इच्छा है कि मृत्यु के बाद मैं जैन परिवार में जन्म धारण करूं।

अमरिकन बहन बोर्डीकार्मोरी का कहना है—"जैन धर्म एक ऐसा अद्वितीय धर्म है कि जो प्राणिमात्र की रक्षा करने के लिए क्रियात्मक प्रेरणा देता है। मैंने ऐसा दयामय किसी धर्म में देखा नहीं है।

डॉ सतीशचंद्र विद्याभूषण M.A.PH.D (कलकत्ता) लिखते हैं — "ऐतिहासिक संसार में तो जैन साहित्य जगत के लिए अधिक उपयोग की वस्तु है जो इतिहासलेखक तथा पुरातत्त्वविशारदों के लिए अनुसन्धान की विपुल सामग्री उपस्थित करती है।...जैन साधु सचमुच प्रशंसनीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जैन साधु पूर्ण रीति से व्रत नियम व इन्द्रियसंयम का पालन करते हुए विश्व में आत्मसंयम का एक जबरदस्त उत्तम आदर्श उपस्थित करते हैं। एक गृहस्थ का भी जीवन जो जैनत्व (याने जैन आचार-विचार के पालन) का अर्पित है वह इतना भारी निर्दोष है कि भारतवर्ष को उस का गौरव रखना चाहिए।

१-प्रवेश.

卐

यह जगत् क्या है? हम कौन हैं? और हमें क्या करना चाहिए? ऐसे प्रश्न समझदार व्यक्तियों के मन में उठते हैं। इनमें–

'जगत क्या है'? इसके विचार में तत्त्व का विचार आता है।

'हम कौन हैं?' इसमें अपनी आत्मा का प्राचीन इतिहास, हमारी अवनति का स्वरूप व कारण और अब उत्थान किस क्रम से हो सकता है, इत्यादि चिन्तनीय हैं।

क्या करना चाहिए? इसमें धर्म का विचार आता है।

इस पुस्तक में यह सब विषय सरलता पूर्वक समझाया गया है और यह परिचय जैन धर्म के द्वारा बताई गई रीति से दिया गया है अत इस पुस्तक का नाम 'जैन धर्म का सरल परिचय' रक्खा गया है।

पहिले उपर्युक्त प्रश्नों का यहा संक्षिप्त विचार कर लें।

जगत केवल जड़ पदार्थ रूप नहीं है, क्योंकि जड़ में कोई बुद्धि, योजना शक्ति और उद्यम नहीं दिखाई देते हैं। इसलिए दृश्यमान व्यवस्थित सृजन और संचालन जड नहीं कर सकता। जड़ के साथ जो जीव तत्त्व काम करता है उस जीव की बुद्धि योजना शक्ति और उद्यम वश जड़ की सहायता से विश्व में विविध सृजन-सचालन होते हैं। सक्षेप में जड़ की सहायता और जीव का पुरुषार्थ दोनों के मिलन से घटन-विघटन होते हैं।

जीव की विविध प्रकार की वृत्ति और प्रयत्न के कारण जीव पर जड़ कर्मों की रज चिपकती है और वे कर्म जब पक जाते हैं तब जीव में और जड़ में तदनुसार परिवर्तन पैदा करते हैं; जिसके योग से नया २ सृजन हुआ करता है। इससे यह मानने का कारण मिलता है कि सृजन के पीछे जीव जड़-पुद्गल व पुण्य और कर्म काम करते हैं। जैसे माली ने तो सिर्फ खाद और बीज डालकर पानी पिलाया परन्तु एक ही जमीन में खाद बीज और पानी की समानता होने पर भी पौधे डालियाँ पत्ते फूल और फल विविध रंग के और विविध आकार के और विविध स्वाद के किस प्रकार व्यवस्थित रूप में तैयार होते हैं? अपने शरीर की तरह ये अलग-अलग में स्वतन्त्र रूप में कैसे भिन्न प्रकार होते जाते हैं? मानना पड़ता है कि इन पुद्गलों के पीछे जीव और कर्म काम कर रहे हैं। इसी प्रकार जमीन के भीतर की तथाप्रकार की मिट्टी धातु, पाषाण पानी अग्नि और वायु के सृजन के पीछे भी जीव और उनके कर्म काम कर रहे हैं। वहाँ उत्पत्ति स्थान में जीव नया जन्म धारण करने ? कर्मों के अनुसार प्रविष्ट होते हैं और अपने योग्य खाद्य सामग्री ग्रहण करने से कर्मानुसार उनके विविध शरीर बनते हैं। इसी का नाम पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि है।

इस पर से समझ में आएगा कि इस जगत में होने वाले सृजनों के पीछे जीव और जड़ नामक दो तत्त्व काम कर रहे हैं। जीव अपने कर्मों को तदनुरूप शरीर के द्वारा भोगता है। तदुपरान्त इसमें फिर जीव की मिथ्या वासना, नाना प्रकार की वृत्तियाँ (जैसे-वनस्पतिकाय में भी भय, लज्जा, मोह की लगन), मूढ़ता, कायिक प्रवृत्ति आदि द्वारा नए २ कर्म उस पर चिपकते हैं। इन कर्मों का विपाक होने पर पुनः तदनुरूप सृजन होता है। जीव एक शरीर में से निकल कर दूसरा शरीर धारण करता है, दूसरे में से निकल कर तीसरा,

इस प्रकार समस्त विश्व की विचित्रता चलती रहती है। इसमें जीव की सहायता के बिना अकेले जड़ के भी सृजन होते हैं, जैसे–सन्ध्या के रंग, मेघगर्जन का शब्द, भाप धूम्र, छाया, अंधकार, अदृश्य अणु में से बड़े २ स्कंध, इत्यादि। विश्व में यह सब सृजन-संचालन अनादि काल से चला आता है। कोई भी कार्य कारण-सामग्री के बिना हो ही नहीं सकता। अर्थात् पहिले कभी कुछ भी नहीं था, और पीछे जीव और जड़ यकायक उत्पन्न हो गए अथवा अकेला जड पदार्थ पहले था और बाद में जीव नया ही बन गया अथवा जीव बिल्कुल निर्मल था और यकायक शरीर धारण करने लगा,–ऐसा कुछ हो ही नहीं सकता। कार्य बनने से पूर्व कारण का होना मानना ही पडता है। इन कारणों के भी उपस्थित होने में इनके भी कारण मानने पड़ते हैं। इस प्रकार कभी भी बिल्कुल नया ही प्रारम्भ नहीं हुआ है परन्तु पूर्व कारण सोचते हुए अनादि काल से यह सृजन-विसर्जन चला आया मानना ही पड़ता है।

अब यह सोचें कि हम कौन हैं ? पहले क्या थे ? और अपना अधःपतन और उन्नति क्या है ?

ऊपर कहे अनुसार यह जो शरीर दिखाई देता है वह अपने जीव का शरीर है और जीव के अपने पूर्व कर्मों के अनुसार उसका निर्माण और संवर्धन हुआ है। आयुष्य कर्म की पूर्णाहुति तक इस शरीर में अपने जीव को एक-सा होकर रहना पड़ता है। शरीर में जीव इसके कर्म के साथ है इसीलिए शरीर इच्छानुसार हलन-चलन करता है, काम करता है, आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, जीभ चखती है। इसी प्रकार अकेली रोटी भी खाय तो भी उस में से रक्त, मांस, हड्डियां, केश, नख, कफ, मलमूत्र आदि सभी बनते हैं। जीव और कर्म की शक्ति के सहकार के बिना अकेले शरीर और अकेली रोटी की शक्ति नहीं कि यह सब कर सके। यह तो जब तक

शरीर में जीव मौजूद है तब तक ही हो सकता है। मुर्दे में इसमें से कुछ भी नहीं होता। माता के पेट में भी माता के खाने पीने के सिवाय और कोई प्रयत्न न होने पर भी व्यवस्थित रूप को लेकर होता है वह स्वयं के जीव और कर्म के आधार पर ही है। इसलिये ही एक ही माता के दो बच्चों के शरीर, रूप आकृति, स्वर तथा अन्य बातों में भी अन्तर होता है।

इस पर से सिद्ध होता है कि हम जीव हैं। जीव अनादि अनंत काल से कर्म करता है शरीर में बन्दी होता है वहाँ कर्म करता है और उस शरीर को छोड़कर नये शरीर में प्रवेश करता है इस प्रकार चलता रहता है। इसमें अनन्तानन्त काल तो जीव ने सूक्ष्म एकेन्द्रिय वनस्पतिकाय में बिताया। अनन्त बार जन्म मरण किये। पहले कहे अनुसार सूक्ष्म वृत्तियाँ और आहार-ग्रहण आदि क्रिया प्रवृत्ति द्वारा कर्म से लिप्त होता रहा, पुराने कर्मों को भोगता नये उपार्जन करता इन कर्मों से नये २ शरीर धारण आदि चलता रहा। ये कर्म अच्छे बुरे (पुण्य-पाप) ऐसे दो प्रकार के होते हैं। कभी कुछ पुण्य-शक्ति बढ़ने से वनस्पतिकाय में से बाहर निकल कर पृथ्वीकायादिपन प्राप्त किया। उसमें भी ऊपर-नीचे की योनि में जन्म मिलने पर क्रम २ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय आदि संसारी अवस्थाओं में भटकना पड़ा बीच-बीच में एकेन्द्रियत्व भी पाना पड़ा। पाप बढ़ने पर नीचे गिरना और पुण्य बढ़ने पर ऊपर चढ़ना, ऐसी यह स्थिति अनन्तानन्त काल से चल रही है।

प्र०—पुण्य किस प्रकार बढ़ा?

उ०—एक तो कर्मों की बहुत मार खाने वाले अकाम निर्जरा के बाद कर्म लघु होने के कारण सहज शुभ भाव से पुण्य बढ़ता है। और दूसरा धर्म करने से पुण्य बढ़ता है। इसमें भी पुण्य उत्तरोत्तर

बढ़ता ही जाए ऐसा नियम नहीं है। जीव जिस तरह वर्तन करता है उसी प्रकार पुण्य या पाप पैदा होते हैं। जब बहुत मार खाने के बाद अथवा अशुद्ध धर्म-सेवन से पैदा किये हुए पुण्य का भोग किया जाता है तब जीव लगभग मोह-मूढ़ता वश पापाचरण में पड़कर नये पाप बढ़ाकर नीचे लुढ़क जाता है, परन्तु यदि शुद्ध धर्माचरण करे तो उससे बढ़े हुए पुण्य के भोग के काल में भी शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है, धर्म प्रवृत्ति होती है, पुण्य बढ़ता है और प्रगति होती है। इसमें भी पुन यदि मोहमूढ बन कर भूल जाए तो नीचे लुढक पड़ता है।

प्र०—शुद्ध धर्म क्या है?

उ०—वीतराग सर्वज्ञ बने हुए भगवान द्वारा कथित धर्म शुद्ध धर्म कहलाता है क्योंकि वे सर्वज्ञ होने से तीनों काल की परिस्थिति को प्रत्यक्ष देखते हैं तथा वीतराग होने से असत्य भाषण करने के कारणभूत राग द्वेष आदि से रहित होते हैं। अत: जीव अजीव आदि तत्त्व कौन २? और जीव की अवनति, उन्नति कैसे होती है तथा धर्म का स्वरूप क्या है यह सब यथार्थ देखने के अनुसार ही कहते हैं। ऐसा धर्म बताते हैं कि जिससे प्रत्यक्ष में भी दोष दुष्कृत्य और चिंता घटकर आत्मा का क्रमिक विकास होता दिखाई देता है, आन्तरिक सच्ची सुख शांति बढ़ती है तथा भवांतर में सद्गति और सत् सामग्री की प्राप्ति होती है वहां अधिक धर्म साधना करता हुआ जीव आगे बढता है।

आत्मज्ञान व शुद्ध धर्म का प्रारम्भ वैराग्य से होता है। वैराग्य याने संसार और इन्द्रिय विषयों के प्रति नफरत, अरुचि उकताना। वहां मन को ऐसा होता है कि यह बार बार जन्म लेना और मरना यह क्या? यह शरीर रूपी पुद्गल के लोथड़े पाने एव बढ़ाने की बेगार करनी, फिर इनका खो जाना, जीवन में अनेकानेक प्रकार की जड़ की गुलामी

करते रहना और आखिर इसका परिणाम क्या ? जो कहते हैं वही से छिन्नभिन्न हो जाना। आगे चले जाओ यह सब क्या है ? किस लिये मुझसे यह सब कराना ? कैसा यह संसार और कैसा ये [illegible] ([illegible]) [illegible] ! किस प्रकार इन सब से मुक्ति हो ? इस प्रकार संसार पर, संसार भ्रमण पर घृणा पैदा होना प्रारम्भ होना चला जाना और इनमें से छूटने के लिये मन का लालायित होना इसका नाम वैराग्य । इसी से शुद्ध धर्म का प्रारम्भ होता है, इसके बिना नहीं ।

जब तक जड़ पदार्थों की चांदनी से भरे हुए संसार पर घृणा न हो तब तक अन्तरात्मा पर और अन्तरात्मा को जड़ से भिन्न करने पर दृष्टि पड़ेगी ही नहीं । दृष्टि ही न जावे तो धर्म भी किस लिये करे ? पैसे टके अथवा सांसारिक सुख सम्मान के लिए चाहे कोई भी धर्म का सौदा कर सकता है पर यह कोई धर्म नहीं है । धर्म तो सांसारिक पींजरे में से छूटने के लिये है, छूटने के समय पर मिलने वाली सद्गति आदि सामग्री के लिये है । इसके लिए आत्मा का लक्ष्य होना चाहिए और वह तभी हो सकता है जब कि जड़ माल के बन्धन पर घृणा हो । इसलिये शुद्ध धर्म के प्रारम्भ में जड़ पदार्थ-युक्त संसार पर वैराग्य चाहिये । यह प्राप्त हो तभी सच्ची मोक्ष-रुचि प्रकट हो सकती है ।

प्र०—ऐसा धर्म कब मिलता है ?

उ०—जीव के इस संसार से छुटकारा (मोक्ष) प्राप्त करने के पूर्व के एक पुद्गल परावर्त काल में ही धर्म मिलता है । यह अंतिम अर्थात् चरम पुद्गल परावर्त काल 'चरमावर्त' काल कहलाता है (असंख्य वर्ष=१ पल्योपम काल १ कोड़ि-कोड़ि पल्यो०=१ सागरोपम, १ कोड़िकोड़ि सागरो =१ कालचक्र, अनन्त कालचक्र= १ पुद्गल परावर्त काल ।

चरमावर्त काल के पूर्व अचरमावर्त काल में धर्म नहीं मिलता क्यों कि वहा वैराग्य, आत्मदृष्टि अथवा मोक्षदृष्टि आती ही नहीं। वहा तो मात्र जड़ का मोह, क्रोधादि कषाय, मिथ्यामति और हिंसादि पाप आदि में निर्भीकता से तल्लीन होकर रहना और नरक तिर्यंच मनुष्य, देव इन चार गतिओं में भटकते रहना मात्र होता है। इसमें भी द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियत्व तक की अवस्था जो त्रसपन कहलाती है, उसमें अधिक से अधिक २००० सागरोपम तक टिक सकते हैं। इसमें मोक्ष न हुआ तो अन्त में इतने काल के बाद तो एकेन्द्रियत्व में उतरना ही पड़ता है। वहा अधिक से अधिक अनंत-कालचक्र भी निकल जाए ऐसी सम्भावना है। उसके बाद ही ऊँचा उठ सकता है। इसमें भी २००० सागरोपम तक में मोक्ष प्राप्ति नहीं हुई तो इतने समय के त्रसपन में से या कदाचित इसके पहले भी जीव वापिस एकेन्द्रियत्व में घसीटा जाता है। अनन्तानन्त काल में ऐसा हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। बात यह है कि अचरमावर्त काल में आत्मा की तरफ कोई दृष्टि ही नहीं होती, संसार पर वैराग्य नहीं, पाप का वास्तविक भय नहीं। यह सब चरमावर्त काल में ही होता है। वहा भी कदाचित् प्रारम्भ में हो, पीछे भी हो, बीच में भी हो अथवा लगभग अन्त में भी हो जाए।

प्र०—आत्मा की उन्नति अर्थात धर्म में आगे प्रगति के विषय में जैन दर्शन क्या कहता है?

उ०—यहा इतना समझ लेना चाहिये कि उपर्युक्त कथनानुसार अनादिकाल से सूक्ष्म वनस्पतिकाय की दशा में ही जन्ममरण करते जीव भवितव्यता के योग से बाहर निकलता है, और पृथ्वीकायादि योनियों में भटकता है। इसमें दो प्रकार के जीव होते हैं एक भव्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता वाले जीव और दूसरे अभव्य योग्यता-विहीन। अभव्य को तो कभी मोक्ष ही नहीं, अतः उसका

कभी भी चरमावर्त काल नहीं आता। भव्य को यह काल मिलता है परन्तु सुलभता काल के सहकार से मिलता है अर्थात् इतना काल बीतने के बाद ही मिलता है। काल की महात्मा से चरमावर्त में आने के बाद जीव को शुभ कर्म-पुण्य का सहारा मिलता है तो पंचेन्द्रियत्व आदि मिलते हैं और वहां पुरुषार्थ करे तो धर्म-प्राप्ति होती है। इस प्रकार भवितव्यता काल स्वभाव कर्म और पुरुषार्थ ये पांच कारण काम करते हैं। इनमें उत्तम मनुष्य भव आदि देव-गुरु धर्म का संयोग मिलने के बाद अब धर्म दृष्टि जागृत हुई। इसका अर्थ यह है कि पहले चार कारण तो अनुकूल हो गए अब पुरुषार्थ करना शेष रहा। पुरुषार्थी जीव आगे बढ़ता है, इसका क्रम भिन्न २ प्रकार से सोचें।

१ धर्म को एक वृक्ष मानें तो पहिले धर्म बीज आत्मक्षेत्र में बोया जाना चाहिये। यह धर्म-बीज अर्थात् धर्म प्रशंसा अन्य के धर्म को देखकर, जैसे-किसी का महान् दान, किसी की तपस्या इत्यादि देखकर अहो! कैसा सुन्दर प्रयत्न" ऐसी जो धर्म प्रशंसा हो यह धर्म बीज है। केवल रंग राग अथवा पैसे के पुजारी को तो ऐसा लगेगा कि यह कभी मूर्ख है कि तप से रंग राग खोता है और धन व्यर्थ लुटाता है। जब कि जिसका कुछ रंग राग और लक्ष्मी का पक्षपात कम होगा उसे अन्य के दान तप आदि पर आकर्षण होता है। इसके बाद धर्म प्रशंसा होती है यह धर्म-बीज का वपन हुआ। फिर धर्म की अभिलाषा जागती है जिसे अंकुर-फूटना कहते हैं। आगे वह जो धर्म सुनने समझने का प्रयत्न करता है वह अंश के स्थान में है। इस पर श्रद्धा होती है, आचरण किया जाता है और इस प्रकार विकास करते २ आखिर में मोक्ष प्राप्ति होती है। यह सब डंठल पत्ते पुष्प फल तक पहुँचना कहलाता है।

अहिंसा, क्षमा सत्य इत्यादि कोई भी धर्म सिद्ध करने के लिए

पहले पहल यह बीज वपन आवश्यक है अर्थात् उस उस धर्म की शुद्ध प्रशंसा प्रथम होनी चाहिए। यही धर्मबीजाधान है। तत्पश्चात् उस धर्म की रुचि, अभिलाषा स्वरूप अंकुर आदि प्रगट कर धर्म-वृक्ष को बढ़ाते बढ़ाते उस धर्म की सिद्धिरूप फल निष्पन्न होता है।

धर्म प्रशंसा की यह वस्तु तो असर्वज्ञ के धर्मों में भी हो सकती है किन्तु वहां सच्ची शुद्धधर्म-श्रद्धा नहीं मिलती। किसी जन्म में जीव मिथ्यामत के आग्रह से रहित हुआ हो और सर्वज्ञ-कथित सत्य धर्म का श्रवण करे एवं इस धर्म पर चित्त में चमत्कार लगे कि अहो 'कितना सुदृढ़ युक्तिसंगत और प्रमाणसिद्ध यह कल्याण धर्म ! यही सच्चा धर्म है, सच्चा मोक्षमार्ग है, इसी के तत्त्व सत्य तत्त्व हैं, ऐसी श्रद्धा हो तो मूल शुद्धधर्म प्रशंसा रूपी बीज से अंकुर, कंद, स्कंध, डाल, पत्ते, पुष्प उत्पन्न होकर फल आया, ऐसा कहा जा सकता है। अब यह सद्धर्म श्रद्धा सत् तत्त्व-श्रद्धा, जिसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, वह बीज बनता है, और आगे इस पर सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र, सम्यक्-तप की साधना हो तो अन्त में मोक्ष फल की प्राप्ति होती है।

(२) मोक्षमार्ग की दृष्टि से देखें तो धर्म अर्थात मोक्षदायी सम्यग् आचरण। पूर्वोक्तानुसार चरमावर्त में जब आत्मा की ओर कुछ भी दृष्टि जाती है, और जड़ के रंग राग की ही एक मात्र लेश्या मन्द होती है, तब जीव न्याय-सम्पन्नता, कृतज्ञता, दया, परोपकार आदि का सेवन करने लगता है। यह सेवन, वास्तविक मोक्ष-मार्ग याने सम्यग्दर्शनादि की ओर ले जाने वाला होने से, मार्गानुसारी जीवन या सामान्य गृहस्थ धर्म कहलाता है। इसका सेवन करते २ सद्गुरु का योग हो तथा सर्वज्ञ-कथित वास्तविक तत्त्व और मोक्ष मार्ग सुनने समझने के लिये श्रद्धा प्रगट हो तो यहां सम्यग्दर्शन होता है। इसके होने पर सर्वज्ञ तीर्थङ्कर अरिहंत भगवान् की पूजा

२.

जीवन में धर्म की आवश्यकता

प्रश्न.—जीवन में धर्म की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—जीवन में सुख की जितनी आवश्यकता है उतनी ही धर्म की आवश्यकता है क्योंकि सुख धर्म से ही प्राप्त होता है। पाप से दुःख प्राप्त होता है। "सुखं धर्मात् दुःखं पापात्" यह सनातन सत्य है। धर्म परलोक को तो अच्छा बनाता ही है यहां भी सुख दिखलाता है, क्योंकि सुख अन्तर के अनुभव की वस्तु है, बाह्य पदार्थों का धर्म नहीं है यह ध्यान में रहे। बाह्य धन का ढेर होने पर भी चित्त किसी चिन्ता से जल रहा हो तो सुख क्या? स्थूल बुद्धि वाले मानते हैं कि सुख धन में है, मेवा मिष्टान्न में है, नारी के रूप में है, मान-माया व सत्ता के मद में है, लेकिन विश्व में देखें तो पता चलता है कि कितने ही लोगों के पास धन सम्पत्ति आदि कम है फिर भी वे अधिक सुखी हैं और कितने ही लोगों के पास सत्ता और वैभव का अभाव नहीं है पर सुख शान्ति उनके पास फटकती ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि अगर सुख धन-माल का गुण होता तो धन आदि की वृद्धि से सुख की भी अभिवृद्धि होती पर ऐसा होता नहीं है। एक दो लड्डू खाते तो सुख होता है लेकिन अधिक खाने में आने से कै होने लगती है। एक पत्नी के सहवास में जो सुख का अनुभव होता है वह एक से अधिक पत्नी के सह-

काम में आने पर बढ़ता नहीं है अपितु कम हो जाता है। जो सुख यहाँ कहाँ रहा? एक ही वस्तु अपने को सुख का कारण बनती है और वही दूसरे को दुःखरूप होती है। और एक ही वस्तु अपने को अभी सुख देती है लेकिन बाद में उसीसे दुःख मिलता है। फिर बाह्य वस्तु का धर्म क्या हुआ? सुख या दुःख? कुछ भी नहीं। वास्तव में सुख बाह्य वस्तु का धर्म नहीं आत्मा का धर्म है। लेकिन वह तभी अनुभव में आता है जब विषय मद, उन्माद आदि नहीं होते हैं पर चित्तप्रसन्नता निर्मलता शान्ति और मन की मस्ती होती है। धर्म ही यह स्थिति उत्पन्न कर सकता है। जिस तरह निर्मोह मन से सन्तप्त भूख को सूखी रोटी सुखदायक मालूम होती है। उसी तरह धर्मात्मा को जीवन के सामान्य संयोगों में भी परम आनन्द प्राप्त होता है, जैसे कि साधु महर्षियों को। तदुपरान्त धर्म तो ऐसे पुरुष-पुंज का साथ है जो जीव को परभव में भी देवत्व-मनुष्यादि गति अथवा कुल आरोग्य, ऋद्धि-सिद्धि और धर्म-सामग्री देता है। सारांश वर्तमान और भविष्य, दोनों कालों का सुख अगर इष्ट है तो धर्म-साधना ही करना परम आवश्यक है।

धर्म-परीक्षा

ऐसा धर्म कौनसा हो सकता है ? ऐसा एक प्रश्न उपस्थित होता है। इसका उत्तर यह है कि जो धर्म सोने की तरह कसौटी (घर्षण) छेद और ताप की परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाय वही धर्म सत्य और आदरणीय है।

(१) घर्षण याने कसौटी-परीक्षा में पास, अर्थात् जिसमें योग्य विधि व निषेध स्पष्ट दिखाए गये हों अर्थात् फलाँ २ योग्य कर्तव्य है और फलाँ २ अयोग्य होने से निषिध है उससे निवृत्ति करने योग्य है ऐसा कहा हुआ हो। तात्पर्य यह है कि जिसमें ग्राह्य और त्याज्य के विवेक की स्पष्टता हो। उदाहरणार्थ जैसे कहा गया कि "ज्ञान, ध्यान, तप आदि करना", "हिंसादि का परित्याग करना"। यह हुई ज्ञानादि की विधि और हिंसादि का निषेध।

(२) तथा जो धर्म विधि निषेध की पुष्टि करने वाले अनुरूप आचार अनुष्ठान आदि का निर्देश करता हो वह छेद परीक्षा में सफल होता है। उदाहरणार्थ पहले निषेध तो किया कि किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिये, फिर अनुष्ठान के लिये अगर कहे कि 'पशु वध करके यज्ञ करना चाहिए' तब यह निषेध के अनुकूल वस्तु नहीं हुई, यह तो हिंसा-निषेध के प्रतिकूल बात हुई। अत यह धर्म छेद परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुआ। जैन धर्म में ऐसा नहीं है क्योंकि गृहस्थ और साधु के लिये जो आचार, अनुष्ठान आदि बताये गये हैं वे विधि एवं निषेध के साथ संगत हैं। साधु के लिये कहा है कि "समिति-गुप्ति धर्म पालो याने जीवों की रक्षा हो ऐसी रीति से देखकर चलो, बोलो व भिक्षा ग्रहण करो आदि। गृहस्थ-श्रावक के लिये भी सामायिक, व्रत, नियम, देव-गुरु-भक्ति

आदि के अनुष्ठान ऐसे बताये हैं कि जो विधि निषेध के विरुद्ध नहीं हैं।

(३) तीसरी बात ताप परीक्षा यह है कि विधि निषेध और आचार-अनुष्ठान संगत बन सकें इस प्रकार के तत्त्व एवं सिद्धान्त को जो धर्म मानता है। दृष्टान्त के लिए तत्त्व को माना कि 'एक शुद्ध बुद्ध आत्मा यही तत्त्व है'। अगर ऐसा है तो विधि निषेध संगत कैसे हो? निषेध यह है कि 'किसी जीव की हिंसा नहीं करना'। पर यदि आत्मा एक ही है अर्थात् अन्य कोई पृथक् जीव है ही नहीं तो फिर मारना किसे? इसी प्रकार अन्य दर्शन जो मानता है कि आत्मा क्षणिक है यानी क्षण में नष्ट हो जाती है। दूसरे क्षण में अन्य नई आत्मा ही पैदा हो जाती है, तीसरे क्षण में तीसरी ही। तब यह मालूम है कि अगर ऐसा होता है तो प्रश्न होगा कि निषिद्ध हिंसा के आचरण का एवं विहित तप-ध्यान का फल किसे होगा? हिंसा या तप-ध्यान करने वाला तो क्षण में नष्ट हुआ है। इस प्रकार जीव एकान्त नित्य ही हो तो उसमें कोई परिवर्तन शक्य नहीं, फिर फल-भोगार्थ परिवर्तन कहाँ होगा। अतः इन तत्त्व-सिद्धान्तों में विधि-निषेध संगत नहीं हुए।

जैन धर्म कहता है कि आत्मा अनन्त है और नित्यानित्य है। इसलिए सब विधि-निषेध एवं आचार तत्त्व सिद्धान्त के साथ संगत हो जाते हैं। जीव अनन्त हैं अतएव एक द्वारा दूसरे के विनाश का होना सम्भव है। इसी तरह जीव नित्यानित्य याने द्रव्य के रूप में नित्य और अवस्था (पर्याय) के रूप में अनित्य है, अतः हिंसा एवं तप ध्यान का फल भोगने के लिए वह अवस्थित भी है और अनित्य अवस्था बदल जाने से यहाँ फल के लिए दूसरी अवस्था भी आ सकती है। इस प्रकार जैन धर्म तीनों परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने से सौ टंच के सोने जैसा है। इससे धर्म का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

४.

जैनधर्म विश्वधर्म है ?

पूछिए, तब क्या ऐसा जैनधर्म विश्वधर्म कहा जा सकता है ?

उत्तर है,—हां, जैनधर्म विश्वधर्म कहा जा सकता है क्योंकि,

(१) जैनधर्म में समस्त विश्व का यथास्थित स्वरूप प्रकट हुआ है।

(२) जैनधर्म सारे विश्व के लिए आदरणीय धर्म हो सके, ऐसे सर्वव्यापी नियमों का इसमें प्रतिपादन है।

(३) जैनधर्म में धर्म के प्रणेता के रूप में और आराध्य इष्ट देव के रूपमें कोई एक स्थापित व्यक्ति नहीं है अपितु विश्वमान्य हों ऐसे वीतरागता, सर्वज्ञता और सत्यवादिता आदि विशिष्ट गुणों और विशेषताओं को रखने वालों को ही प्रणेता और इष्ट देव के रूप में स्वीकार किया गया है।

(४) जैनधर्म में विश्व के कोई भी प्रारम्भिक योग्यता वाले जीव से लेकर क्रमश सर्वोच्च कक्षा तक पहुँचे हुए जीव तक के लिए हितकर और पालन की जा सके ऐसी क्रमिक विविध कक्षा वाली साधना बताई हुई है।

(५) जैनधर्म में समस्त विश्व के तर्कसिद्ध और वास्तव में विद्यमान तत्त्व पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

(३) वर्तमान विश्व की दुःसाध्य समस्याओं का निवारण कर सके ऐसे अनेकान्तवादादि सिद्धान्त और अहिंसा अपरिग्रहादि के आचार जैन धर्म में स्थित हैं। अतः जैन धर्म को विश्व-धर्म कहा जा सकता है।

आज की दुनिया के समर्थ नाटककार चिन्तक तथा महान नाट्यकार बर्नार्ड शॉ से गांधीजी के पुत्र देवीदास द्वारा पूछा गया कि परलोक जैसी कोई चीज हो तो आप इस जन्म के पश्चात् क्या होना पसंद करेंगे ?

शॉ ने उत्तर दिया—मैं जैन होना चाहता हूँ।

देवीदास चौंक उठे और सोचने लगे कि अपने देश के ईसाई धर्म और भारत के तीस करोड़ जनमान्य हिंदूधर्म की चाह न करके १५-२ लाख जनमान्य जैनधर्म इन्हें क्यों स्वीकार्य है ! उन्होंने उनसे पुनः पूछा ऐसा क्यों !

बर्नार्ड शॉ ने कहा—कि जैन धर्म में ईश्वर या परमात्मा का परवाना किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया गया है। जगत् का कोई भी विशिष्ट योग्यता वाला मनुष्य आत्मा की उन्नति और उत्कर्ष कर परमात्मा बन सकता है। दूसरी बात यह है कि इसमें परमात्म पद के लिए व्यवस्थित क्रमिक साधना मार्ग बताया गया है। जो वैज्ञानिक भी है। ऐसा व्यवस्थित क्रमिक और वैज्ञानिक साधना-मार्ग अन्यत्र नहीं है।

धर्म में मुख्य दो विषय हैं एक विषय—पालन करने के आचार विचार का और दूसरा जानने मानने योग्य तत्त्वों का। दूसरे शब्दों में कहें तो धर्म में यह सिखलाना चाहिये कि विश्व क्या है विश्व की व्यवस्था किस प्रकार चलती है और इसमें जीव के साथ कौन-कौन से तत्त्व जुड़े हुए हैं और आचार विचार कौन-कौन से हैं जो कि मोक्ष की ओर प्रयाण शुरू करावें और अखंड रखें।

५

विश्व क्या है ?

विश्व क्या है ? विश्व चेतन और जड़ द्रव्यों का समूह है। जड़ द्रव्यों में पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल गिने जाते हैं। इनका वर्णन आगे करेंगे।

प्रश्न होगा क्या द्रव्य के सिवाय विद्युत-शक्ति आदि भी वस्तु नहीं है ?

उत्तर यह है कि नहीं, पृथक् वस्तु नहीं। शक्ति भी द्रव्य का ही एक गुण धर्म है। शक्ति, गुण, अवस्था आदि को किसी आधार की आवश्यकता होती है, जैसे कि प्रकाश शक्ति का आधार दीपक, रत्न आदि हैं। तात्पर्य कि द्रव्य को छोड़कर स्वतन्त्र शक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है।

प्रश्न —ठीक है, तब तो चैतन्य भी जड़ शरीर की ही एक शक्ति मानो। क्योंकि वह भी जड़ से पृथक् नहीं दिखती। फिर विश्व अकेला जड़ द्रव्य ही रहा। चेतन द्रव्य पृथक् कौन सा ?

उत्तर —चेतन द्रव्य पृथक् स्वतन्त्र द्रव्य है, मात्र उसमें वर्ण स्पर्श आदि धर्म नहीं होने से चक्षु आदि इन्द्रिया से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। एवं चेतन-द्रव्य शरीर में प्रविष्ट हो गया है इसलिए शरीर

का संयोग हुआ है उसी में चैतन्य, ज्ञान इच्छा राग सुख दुःख आदि धर्म होने का ज्ञान होता है। वास्तव में ये शरीर के धर्म नहीं हैं किन्तु शरीर में बन्धे बने हुए चेतन-द्रव्य के धर्म हैं।

प्रश्न—चैतन्य आदि को शरीर का धर्म क्यों नहीं माने ?

उत्तर—इसलिए नहीं कि शरीर जड़ है। मिट्टी कपड़ा, पत्थर आदि जड़ की भाँति इसमें वर्ण रस गन्ध स्पर्श हो सकते हैं पर चैतन्य, ज्ञान सुख, दुःख आदि धर्म नहीं। इसका कारण यह है कि (१) मृतक के शरीर में ये बिलकुल नहीं दीखते तथा (२) शरीर के घटक द्रव्य मूल मिट्टी पानी आदि में ज्ञानादि बिलकुल हैं ही नहीं। शराब में नशा लाने वाले महुआ पानी गुड़ आदि द्रव्यों में तो मादकता कम ज्यादा मात्रा में होती है अतः इनसे बनने वाले शराब में भी मादकता दिखाई देती है। यहाँ जब कि मिट्टी अन्न पानी में ज्ञान सुख, दुःख आदि का लेश भी नहीं है तब इनसे बने हुए शरीर के ये धर्म कैसे मान जावें? अतः कहना होगा कि शरीर में अदृश्य रूप से जो आत्मा है उसी के ये धर्म हैं। दूध में गीलापन शीतलता और चिकनाहट नहीं होती है वे तो पानी के गुण हैं। जब थोड़े दूध में ये गुण दिखने पर हम कहते हैं कि इसमें जो पानी मिलाया हुआ है उसी के ये धर्म हैं। इसी प्रकार शरीर में चेतन आत्म-द्रव्य मिला हुआ है, जिसके ये ज्ञान आदि धर्म हैं। इसीलिये शरीर में से आत्मा के निकलते ही ये बिलकुल नहीं दिखाई देते।

८.

स्वतन्त्र आत्म-द्रव्य के प्रमाण

प्रश्न —जगत में जड़ द्रव्यों के अलावा एक पृथक् स्वतन्त्र चेतन द्रव्य होने का कोई प्रमाण भी का है ?

उत्तर —हाँ। अनेक प्रमाण हैं। (१) ऊपर कहे अनुसार सुख दुःख, ज्ञान, इच्छा, राग, द्वेष, क्षमा, नम्रता आदि धर्म, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श से बिलकुल विलक्षण हैं। इसलिए इन ज्ञानादि का आधार भूत एक विलक्षण द्रव्य होना चाहिये। यही स्वतन्त्र आत्म द्रव्य है।

(२) शरीर में जब आत्मा है तब तक ही खाए हुए अन्न से रस, रुधिर मेद, केश, नख आदि बनते हैं। मुर्दे में आत्मा नहीं तो कुछ भी नहीं बनता।

(३) प्राण के निकलते ही कहते हैं कि इसमें जीव नहीं। वहाँ 'जीव' आत्म द्रव्य को ही कहा गया।

(४) शरीर घटता बढ़ता है पर इसके आधार पर ज्ञान, सुख, दुःखादि घटते बढ़ते नहीं। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञानादि शरीर के नहीं, आत्म द्रव्य के धर्म हैं।

(५) शरीर एक घर जैसा है उसमें शौचालय, पाकशाला व खिड़की आदि हैं। तो इस घर का निवासी घर से कोई अलग ही होना चाहिये और वही है आत्मा।

(६) शरीर कारखाना है, पेट बॉयलर है, हृदय मशीन है, दिमाग मैनेजर है। लेकिन इन सबका मालिक कौन? आत्मा। जिसमें से आत्मा निकल गई है उसका सब काम बंद।

(७) शरीर वस्त्र की तरह भोग्य वस्तु है। मैला होने पर इसको स्वच्छ किया जा सकता है, जैसे एक पावडर से तैल साबुन से स्निग्ध सुन्दर व सुवासित बनाया जा सकता है। मैला होने पर पसंद नहीं आता। पर यह सब करने वाला कौन? शरीर स्वयं नहीं किन्तु आत्मा।

(८) शरीर एक घर की तरह बना हुआ है और उसको इतना व्यवस्थित बनाने वाले आत्मा के पूर्वोपार्जित कर्म हैं।

(९) इन्द्रियों में ज्ञान प्राप्त करने की स्वतन्त्र शक्ति नहीं है, क्योंकि मुर्दे की इन्द्रियां मौजूद होने पर भी वे कुछ कर नहीं सकतीं। नेत्र कान आदि एक दूसरे से पृथक् हैं 'जो बाजा मैं देखता हूँ उसीका शब्द मैं सुनता हूँ'—ऐसा भासना अलग दृश्य रूप और अलग शब्द इत्यादि का एकीकरण वे कर नहीं सके। अतः यह ज्ञान और एकीकरण करने वाला कोई एक स्वतंत्र द्रव्य होना चाहिये और वही आत्मा है। शरीर कोई एक वस्तु नहीं है, यह तो हाथ पांव सिर मुँह छाती पेट आदि का समूह है। यह कोई एक व्यक्ति नहीं कि जो सब के कार्यों का समन्वय कर सके। इसलिये एक स्वतन्त्र व्यक्ति रूप से आत्म-द्रव्य को मानना पड़ेगा।

(१०) किसी एक इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी उसके पूर्व अनुभवों का स्मरण होता है तो यह स्मरण करने वाला आत्मा ही हो सकता है, शरीर नहीं क्योंकि यह तो पलटता रहता है।

(११) नये नये विचार उत्पन्न इच्छा तथा हाथ पैर आदि अवयवों की क्रियाशीलता करने वाली आत्मा ही है। अपनी इच्छानुसार यह क्रियाएं आदि करती है और चाहे तब बंद कर देती है।

(१२) आत्मा नहीं है ऐसा कहने से ही आत्मा की सिद्धि होती है। जो कोई वस्तु है उसीका निषेध होता है। जड को अजीव कहते हैं, अब यदि जीव जैसी वस्तु न हो तो अजीव क्या है ? अगर जगत में ब्राह्मण है तभी अन्य को अब्राह्मण कह सकते हैं।

(१३) शरीर के पर्याय शब्द तदर्थक दूसरे शब्द 'देह' 'काया' 'कलेवर' आदि है और 'जीव' के पर्याय शब्द 'आत्मा' 'चेतन' आदि हैं। इसलिये भी आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है।

(१४) किसी को पूर्व जन्म की स्मृति होती है और पिछला सभी कुछ अपने अनुभव जैसा लगता है यह बात, यदि आत्मा शरीर से पृथक हो और वह पूर्व जन्म से इस जन्म में आया हो, तभी सगत हो सकती है। तभी पूर्व का स्मरण कर सकता है। अन्यथा पूर्व के शरीर के अनुभवानुसार इस शरीर को याद नहीं आ सकता है। अनुभव कोई करे और स्मरण अन्य ही करे यह कैसे हो सकता है।

(१५) बाजार के कारण आराम हराम किया जाता है और पैसे के लिये एक बाजार को छोड़कर दूसरे का ग्रहण किया जाता है। और यह पैसा भी पुत्र के लिये खर्च किया जाता है। पर पुत्र को भी जलते घर के चौथे मंजिल में छोड़कर अपने शरीर की रक्षा के लिए पहली मजिल से बाहर ले जाते है। ऐसा क्यों ? अधिक प्रिय के लिये अवसर आने पर कम प्रिय छोड़ दिया जाता है। अब प्रश्न है कि अवसर पर क्लेश सताप में शरीर भी आत्म हत्या के द्वारा छोड़ा जाता है। वह किस अधिक प्रिय वस्तु के लिये ? कहना होगा कि आत्मा की खातिर। आत्मा के लिये 'मरने के बाद यह देखना नहीं और दुःखी होने की आवश्यकता नहीं' ऐसा विचार रहता है। अत सबसे अधिक प्रिय होने से आत्मा जड़ से पृथक् एवं एक स्वतत्र द्रव्य सिद्ध होती है।

७

आत्मा के षट्स्थान

(१) संसार में ऐसे अनेक स्वतंत्र आत्म-द्रव्य हैं। तब ही इन आत्म द्रव्यों के और जड़-द्रव्यों के परस्पर सहकार से विश्व के कार्य-कलाप चलते हैं। जीव-जड़-मय आत्मा है जो शरीर में स्थित होता है, खिलता है, बढ़ता है और शरीर की आवश्यक इन्द्रियाँ हैं जो ही जीव इनके जरिये रसास्वादन करता है, सुनता है, देखता है और ज्ञान प्राप्त करता है।

(२) यह आत्म-द्रव्य किसी ने बनाया नहीं कभी बन गया ऐसा भी नहीं है परन्तु सनातन नित्य है। एक शरीर से दूसरे शरीर में एक गति से दूसरी गति में निरन्तर पराधीन रूप में भ्रमण-संसरण करता है। यही संसरण संसार है।

(३) आत्मा अनेक वृत्ति प्रवृत्ति से कर्म उपार्जन करती है। वृत्ति प्रवृत्ति की वजह से कर्म चिपक जाते हैं। इसीलिये आत्मा कर्म का कर्ता है।

(४) आत्मा कर्म का भोक्ता भी है और इन उपार्जित किये हुए कर्मों का फल खुद को भोगना पड़ता है। इसका फल है विविध शरीर निर्माण, अज्ञान-दशा, रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, अपयश आदि।

(५) आत्मा का जैसे संसार है उसी तरह मोक्ष भी संभव है। कर्म-बन्धन ही संसार है और कर्म-बन्धन से छुटकारा ही मोक्ष है।

(६) मोक्ष के उपाय भी हैं। जिन कारणों से कर्म-बन्धन होता है उन्हें रोक कर उनसे विपरीत कारणों का आश्रय किया जाय तो अन्त में सर्व कर्म क्षय करके उसके परिणाम स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

(१) आत्मा है।
(२) आत्मा नित्य है।
(३) आत्मा कर्म का कर्ता है।
(४) आत्मा कर्मफल का भोक्ता है।
(५) आत्मा का मोक्ष है।
(६) मोक्ष के उपाय हैं।

आत्मा से संबन्धित ये छ मुद्दे षट्स्थान कहलाते हैं। इन्हें स्वीकार करने वाला आस्तिक कहलाता है और न मानने वाला नास्तिक। 'षट् स्थानम् अस्ति' माने तो आस्तिक और नास्ति कहे तो नास्तिक।

८

छ द्रव्य-पंचास्तिकाय-विश्वसंचालन

पहले कह चुके हैं कि यह विश्व जीव और जड़ द्रव्यों का समूह है। जड़ द्रव्यों में से जिस में वर्ण गंध रस स्पर्श आदि हैं उन्हें पुद्गल द्रव्य कहते हैं। पुद्गलद्रव्य का एक विभाग कर्म है अर्थात् कर्म एक प्रकार के पुद्गल हैं। ये जीव के साथ कषाय (राग द्वेष आदि) व योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) के कारण सम्बन्धित होते हैं। जैसे तेल लगे कपड़े पर जिस तरह धूल चिपकती है उसी तरह जीव पर ये चिपकते हैं और जीव पर भिन्न २ असर प्रकट करते हैं। जीव के कषाय होने का कारण भी पूर्व भव के कर्मों का उदय (विपाक) है। वे कर्म भी कषाय से उत्पन्न हुए थे। वे कषाय भी पूर्व अर्जित कर्म के विपाक का फल — — इस प्रकार कर्म और कारण के नियम पर विचारें तो पूर्व पूर्व कर्म और कषाय अनादिकाल होते हैं। कारण के बिना तो कार्य सम्भव ही नहीं अब अनन्तकाल पूर्व भी क्या था? यह विचारें तो जीव को कोई पूर्व कर्म के विपाक बिना ही अचानक कषाय हो गया अथवा कषाय के बिना अचानक कर्म चिपक गये ऐसा सम्भव ही नहीं। कषाय हुए तो कर्म थे और कर्म चिपके तो वहाँ कषाय थे ही। तात्पर्य, दोनों में से किसी एक का आरम्भ बिना कारण नहीं हुआ था इसीलिये कहो कि दोनों की धारा अनादिकाल से चली आ रही है जिसे हम संसार कहते हैं जो अनादि काल से चलता आ रहा है। यह बात बीजांकुर वृक्ष बीज मुर्गी-अंडा आदि अनेक दृष्टान्तों से समझी जा सकती है।

जैसे —पिता भी किसी का पुत्र है और वह भी उसके पूर्व किसी पिता के पुत्र हैं, मुर्गी भी किसी अंडे में से निकली और यह अंडा भी किसी मुर्गी में से ही निकला। इस तरह पूर्वादि पूर्व धारा अनादिकाल से चली आ रही है।

जीव को कर्म पुद्गल कषाय में प्रेरित करता है और ऐसे कर्म का सर्जन जीव द्वारा होता है। परस्पर के सहयोग से नये नये शरीर व इन्द्रिया बनती हैं। इनको बनाने में कर्म के अतिरिक्त अन्य पुद्गल भी काम करते हैं। ये कौन हैं ? और किस प्रकार कार्य करते हैं ? इसका विचार आगे किया जायगा पर मुख्य कार्यवाही जीव और जड़ पुद्गल ही करते हैं यह समझ लेना चाहिये। जीव और पुद्गल में नवीन २ अवस्थायें हुआ करती हैं यही विश्व का संचालन Working of the world है।

आकाश द्रव्यः—इन दोनों के रहने के लिये स्थान की आवश्यकता है उसकी पूर्ति आकाश द्रव्य करता है। प्रश्न करोगे। आकाश फिर क्या ? आकाश तो शून्य है। नहीं, शून्य से स्थान-अवकाश देने का कार्य होना सम्भव नहीं, इसके लिये तो किसी द्रव्य की आवश्यकता है। द्रव्य वह है जो कुछ कार्य करे एवं जिसमें गुण पर्याय रहे। (पर्याय=अवस्था) आकाश अवकाश दान का कार्य करता है और इसमें एकत्व संख्या, बड़ा परिमाण, इत्यादि गुण हैं एव घटाकाश, मठाकाश, आदि पर्याय हैं इसलिये वह एक द्रव्य है। आकाश कितना बड़ा है ? न तो इसका नाप है और न इसका अन्त है, क्योंकि अन्त माना जाए तो प्रश्न होगा कि खाली अवकाश पूरा हुआ फिर आगे क्या ? तात्पर्य खाली का अंत ही नहीं। इसीलिये आकाश अंत रहित है अनंत है। ऐसे अन्त रहित आकाश में यदि जीव और पुद्गल सर्वत्र गमनागमन कर सकते हों तो आज जो व्यवस्थित

मिनट, घन्टे, दिन, माह, वर्ष आदि अथवा समय, क्षण, घडी, पल, दिन आदि का हिसाब है।

इस तरह जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म, अधर्म और काल ये छ द्रव्य हैं। इन छः द्रव्यों के समूह को ही विश्व कहते हैं। ये जीव, पुद्गल आदि छ द्रव्य मूल रूप में कायम रहते हैं, पर एक दूसरे के सहकार से इनमें नयी नयी रीत भात बनती हैं और पुरानी नष्ट होती है। अर्थात् प्रधान जीव और कर्म के हिसाब से या स्वाभाविक नयी-नयी उत्पत्ति और विनाश हुआ करता है। मूल छ द्रव्य अमर हैं। उनमें अवस्थाएँ बदलती रहती हैं अर्थात उत्पाद व्यय और स्थिति (ध्रौव्य) की महासत्ता को अनुभव करते हुए द्रव्यों में ये अवस्था यानी पर्याय का परिवर्तन हुआ करता है यही विश्व का सचालन है।

प्रश्न - इन छ द्रव्यों में धर्मास्तिकाय कहा इसमें अस्तिकाय का अर्थ क्या ? और अस्तिकाय कितने हैं ?

उत्तर—अस्ति = अंश, प्रदेश। काय = समूह। जिस द्रव्य में अश याने प्रदेश का समूह है उसको अस्तिकाय कहते हैं। उदाहरण धर्म नामक द्रव्य लोकव्यापी एक द्रव्य होने पर भी वह समस्त से नहीं किन्तु अपने अमुक अमुक अंश से तत्रस्थ जीव अथवा पुद्गल को गति में सहायता देता है। इससे इसमें अंश प्रमाणित होते हैं। अस्तिकाय पाच है—जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय, अंश यानी भाग, चाहे वह पृथक् हो सके या नहीं, लेकिन जहा अंश की कल्पना हो सके वह अस्तिकाय। काल सदा वर्तमान सूक्ष्म एक समय रूप में ही प्राप्त है, समूहरूप में प्राप्त नहीं इसलिये वह अस्तिकाय नहीं एक अपेक्षा से काल जीवादि द्रव्य का पर्याय ही है, अत स्वतन्त्र द्रव्य भी नहीं हैं। अत ये पांच अस्तिकाय द्रव्य ही विश्व हैं।

को खून करने दे तो वह स्वय ही गुन्हेगार मानी जाती है। क्या ईश्वर को अपराधी घोषित करना है ? अथवा रोकने में सामर्थ्य विहीन सिद्ध करना है ? अथवा क्या ऐसा कह सकते हैं कि वह निर्दय है ? फिर प्रश्न है वह कहाँ बैठ कर सर्जन करता है ? तुम्हारे मतानुसार तो पृथ्वी भी वह बनाएगा तब बनेगी, परन्तु बनाएगा कहा बैठकर ? फिर उसका यह शरीर कहा से आया ? और इसका किसने निर्माण किया ? पहले अपना शरीर तो था नहीं, फिर हाथ पैर बिना किस तरह अपने शरीर का निर्माण कर सकता है ? स्वय निराकार ने यह साकार रचना कैसे की ? साराश जगत्कर्ता के रूप में कोई ईश्वर नहीं है।

जगत्कर्ता जीव और कर्मः—जीवों के कर्म यदि ईश्वरीय भिन्न भिन्न सृष्टि में नियामक मानना है तो यही मानना उचित है कि कर्म ही सर्जक है। पहाड़, नदी, सूर्य, चन्द्र आदि कर्म से बनते हैं। ये सब जीवों के शरीर के पिंड हैं। इन जीवों के तदनुकूल कर्मों के अनुसार वैसे २ शरीर बनते हैं। इन्हीं का नाम पर्वत, नदी, वृक्ष पृथ्वी आदि है। पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदि किसी जीव के शरीर है, इसीलिये काटे तथा छेदे जाने पर पुन मनुष्य के शरीर के घाव की तरह भर जाते हैं और अखड हो जाते हैं। मानव शरीर से भी प्राण निकल जाने पर घाव भरता नहीं, इसका अर्थ यही कि जीव है तो ही कर्म के सहारे नये शरीर या अवयवों का सृजन होता है। जमीन में अच्छी खाद होने पर भी उसमें जीव प्रविष्ट होकर ही बीज में से अनेक अवस्थाओं को पार करता हुआ हरा अंकुर, डाली, हरे पत्ते, रंगबिरंगे फूल, मधुर फल इत्यादि के रूप में अपने शरीर की रचना करते हैं।

१०

द्रव्य-गुण-पर्याय

जिसमें गुण पर्याय रहते हैं वह द्रव्य है। (पर्याय=अवस्था) जिसमें गुण है, शक्ति है और जिसमें अनेक अवस्थाएँ होती हैं वह द्रव्य कहलाता है। जगत् में द्रव्य जैसी कोई वस्तु अगर हो तभी उसके आधार पर गुण पर्याय और शक्तियाँ रह सकती हैं।

गुण एवं पर्याय में यह अर्थ है, "सहभाविनो गुणाः" व "क्रमभाविनः पर्यायाः" "साथ रहने वाले गुण कहलाते हैं, क्रमशः होने वाले पर्याय हैं। किसी अपेक्षा से गुण भी पर्याय कहलाते हैं क्योंकि वे भी क्रमवार हुआ करते हैं, जैसे पहले सूर्योदय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है फिर संध्या का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तब क्रमशः पैदा होने वाले ये ज्ञान पर्याय हुए।

जीव द्रव्य में स्वाभाविक गुण ज्ञान, दर्शन, चारित्र वीर्य आदि हैं। वीर्य वह आत्मा ही है। आगन्तुक गुण मिथ्यात्व कषाय आदि हैं। जीव की अवस्था के रूप में संसारिता व मुक्तता है। संसारिता

में मनुष्यावस्था, देवावस्था है। मनुष्यावस्था में बचपन, जवानी आदि अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं।

पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गंध, स्पर्श, आकृति आदि गुण हैं। उसके पर्याय के रूप में अलग २ अवस्थाएँ हैं जैसे सोने में पीलापन गुरुत्व व कठोरता आदि गुण हैं एवं इसकी छड, द्रव, (प्रवाही रूप) व मालावस्था आदि पर्याय हैं। ऐसे ही दूध, दही, मक्खन आदि पर्याय हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, काष्ठ, पत्थर, पवन, धातु, रात्रि बिजली, शब्द, प्रकाश, छाया आदि सब पुद्गल के रूपक हैं।

आकाश द्रव्य में अवगाह गुण है। इससे वह वस्तु को अपने में समा लेता है, यानी वस्तु को स्वय अवकाश देता है, यह गुण है, और कु भाकाश, गृहाकाश आदि पर्याय हैं। घड़ा पड़ा है तो घड़े से रुका हुआ आकाश का भाग घटाकाश कहलाता है। घड़ा घर में फूट गया या हटा दिया तो उसी घटाकाश को अब गृहाकाश कहेंगे।

धर्मास्तिकाय द्रव्य में गतिसहायकता एकत्व आदि गुण हैं और जीव धर्मास्तिकाय, पुद्गल-धर्मास्तिकाय आदि पर्याय हैं। अधर्मास्तिकाय द्रव्य में गुण हैं स्थितिसहायकता और पर्याय हैं—जीव-अधर्मास्तिकाय तथा पुद्गल-अधर्मास्तिकाय इत्यादि।

काल द्रव्य के नये पुराने करने की क्षमता (वर्तना) यह गुण है और वर्तमानकाल, भूतकाल, सूर्योदयकाल, मध्याह्नकाल, बाल्यकाल, युवाकाल आदि पर्याय हैं।

जीव, आत्मा, चेतन, प्राणी आदि हैं। अर्थपर्याय याने पदार्थ की भिन्न अवस्थायें जैसे घड़े में, पानी का घड़ा, घी का घडा इत्यादि अवस्था, या पहले कुम्हार की मालिकी, बिकने के बाद फिर खरीदने वाले की मालिकी, या मटकी की अपेक्षा लघुता, लोटे की अपेक्षा से गुरुता। ये सब घड़े में अर्थ-पर्याय हैं।

दूसरी तरह से पर्याय दो प्रकार के हैं (१) स्वपर्याय (२) पर-पर्याय। स्वपर्याय अर्थात अपने से संबंधित लगे हुए और परपर्याय याने स्वय से असंबधित, न लगे हुए। जैसे—घड़े में मिट्टीमयता है, वह उसका स्वपर्याय है, सूतमयता नहीं है वह उसका परपर्याय है। घड़े में गृहनिवास स्वपर्याय है और तालाबवास परपर्याय है।

प्रश्न—परपर्याय तो दूसरों के पर्याय होते हैं न? घड़े के किस प्रकार?

उत्तर—परपर्याय दूसरे के तो स्वपर्याय है जबकि घड़े के परपर्याय हैं। वे घड़े के पर्याय इस प्रकार,—जब कि घड़े के स्वपर्याय घड़े के साथ एकमेकता से संबधित है, तब परपर्याय पृथक रूपता से उसी घड़े के संबधी हैं। घड़ा मिट्टीमय है ऐसा कहते हैं, उसी तरह वही घड़ा सूतमय या स्वर्णमय नहीं है ऐसा भी कहा जाता है। मिट्टीमय कौन? घड़ा। स्वर्णमय कौन नहीं? वही घडा। मात्र घड़े के साथ मिट्टीमयता अस्तित्व (अनुवृत्ति) संबध से संबधित और सुवर्णमयता नास्तित्व (व्यावृत्ति) संबध से संबधित है। सौतेला पुत्र किसका? सौतेली मा का। वास्तव में उसका पुत्र नहीं है, फिर भी सौतेले के संबध से उसका ही पुत्र कहलाता है। इसी तरह परपर्याय घड़े का ही कहलाता है।

११.

नव-तत्त्व

पहले देखा है कि विश्व यह जीव और अजीव (जड़) द्रव्यों का समूह है अर्थात् मुख्य तत्त्व दो हैं—जीव व अजीव; परन्तु इतना जानना ही काफी नहीं है। मानव जीवन में क्या करना व क्या न करना? क्या करने का क्या फल होता है? आपत्ति की इच्छा नहीं होते हुए व बहुत रोकने का प्रयत्न करते हुए भी आपत्ति और प्रतिकूलता का आक्रमण क्यों होता है? कभी थोड़ा प्रयत्न करने पर अधिक सुविधा क्यों हो जाती है? इत्यादि जिज्ञासा पैदा होती है। इस जिज्ञासा की तृप्ति और जीव की उन्नति करने के लिये जैनधर्म में नवतत्त्व का प्रतिपादन है। (यह समझने के लिये कल्पना-चित्र प्रारम्भ में देखें।)

जीव मानो एक तालाब है। इसमें ज्ञान-दर्शनादि स्वच्छ जल है। पर नाली द्वारा बाहर से कचरा बह कर अंदर आता है। यह कचरा भी दो प्रकार का है। (१) अच्छे रंगवाला (२) खराब रंग वाला। अब अगर नालियों के द्वार बन्द किये जाय तो नया कचरा अन्दर आना बन्द हो जाए। और कोई ऐसा चूर्ण यदि अन्दर डाला जाए तो अन्दर का कचरा साफ हो जाए जिससे सरोवर बिलकुल साफ हो जाय।

जीव के विषय में भी ऐसा ही है। इसमें अनन्तज्ञान अनंत सुख रूपी स्वच्छ जल है। पर मिथ्यात्व कषाय, हिंसा आदि के कारण आत्मा में कर्म-कचरा भर जाता है। ये मिथ्यात्वादि आस्रव कहलाते हैं। (आस्रव=जिसके द्वारा आत्मा में कर्मजल हो, कर्म प्रवाहित हो)

अब इन के सामने यदि सम्यक्त्व सामायिक व्रत विनय आदि रूप किये जावें तो नये कर्म आते रुक जाए। इसे 'संवर' कहते हैं। संवर का अर्थ है कर्म के सामने ढक्कन लगाना। कर्म जो इकट्ठ होते हैं वे दो तरह के होते हैं शुभ व अशुभ। शुभ कर्म मन के अनुकूल फल देते हैं व अशुभ कर्म मन के प्रतिकूल फल देते हैं। शुभ कर्म को 'पुण्य' कहते हैं और अशुभ कर्म को 'पाप'। कर्म को जीव आने वाले आस्रव के द्वार बन्द किये जाए तो कर्म आते रुक जाते हैं। अतः इनको रोकने वाले सम्यक्त्व व्रत अहिंसा सामायिक आदि 'संवर' कहलाते हैं। जो कर्म आते हैं वे आत्मा के साथ मिल जाते हैं और उनका स्वभाव स्थितिकाल रस आदि तय होते हैं जिसे 'बन्ध' कहते हैं। इस बन्धे हुए कर्म कचरे को बारह तरह के तपसे दूर कर सकते हैं इसे 'निर्जरातत्त्व' कहते हैं। जब सब कर्म का क्षय हो जाता है तब जीव के सर्वज्ञता परम सुख आदि प्रगट होते हैं व जीव संसार के बन्धन से मुक्त होता है। इसे 'मोक्षतत्त्व' कहते हैं।

卐

:: नवतत्त्व की संक्षिप्त व्याख्या ::

१ जीव —चेतना लक्षण वाला, ज्ञानादि गुण वाला।

२ अजीव — चेतना हीन, पुद्गल, आकाश आदि द्रव्य।

३ पुण्य.—शुभ कर्म पुद्गल, जिससे जीव को इच्छानुसार वस्तु मिलती है जैसे साता वेदनीय, यश-नाम कर्म।

४ पाप —अशुभ कर्म पुद्गल, जिससे जीव को इच्छाविरुद्ध फल मिलता है जैसे असाता०, अपयश०।

५ आश्रव —जिससे कर्म का आव होता है, कर्म बह आते हैं, कर्म के आने का मार्ग, जैसे मिथ्यात्व, इन्द्रिया, अव्रत, कषाय ।

६ संवर —कर्म को आने से रोकने वाला, सम्यक्त्व, क्षमादि, परीषहजय, शुभ भावना,व्रत नियम, सामायिक चारित्र आदि।

७ बंध —आत्मा के साथ कर्म का दूध व पानी की तरह मिला हुआ सम्बन्ध, कर्म में निश्चित होने वाला स्वभाव, स्थितिकाल, उग्र-मन्द रस और दल-प्रमाण (प्रदेश)।

८ निर्जरा —कर्म का क्षय करने वाले बाह्य और आभ्यन्तर तप जैसे उपवास, रसत्याग, शरीरकष्ट आदि बाह्य; और प्रायश्चित, विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि आभ्यन्तर।

९ मोक्ष —जीव का कर्म-सम्बन्ध से पूरी तरह छुटकारा, और जीव का अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, आदि स्वरूप प्रकट होना

ये नौ तत्त्व जिनेन्द्र तीर्थंकर भगवान ने कहे हैं। ये जैन तत्त्व कहलाते हैं। 'जिन' का अर्थ राग द्वेष को जीतने वाले। 'जिन' तीर्थंकरों के संसार के सभी भावों को प्रत्यक्ष देखते हैं जानते हैं अतः वे सत्य हैं। वीतराग सर्वज्ञ को झूठ बोलने की आवश्यकता नहीं है। झूठ राग, द्वेष, भय, हास्य तथा अज्ञानता से बोला जाता है। वे राग, द्वेष अज्ञानादि जिनमें किंचित् मात्र नहीं वे कभी झूठ नहीं बोलते। अतः 'वीतराग सर्वज्ञ प्रभु द्वारा कहा हुआ सब सत्य ही है' अतः ये नव तत्त्व उनके द्वारा कथित होने से पूर्ण सत्य हैं' ऐसी जो श्रद्धा करता है उसमें सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन आदि प्रकट हुआ कहा जाता है। इन नवतत्त्वों के विषय में ज्ञान प्राप्त करके अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिये नवतत्त्वों का विभाग के अनुसार तीन तरह स्वीकार करने चाहिये।

१ जीव—अजीव को ज्ञेय तत्त्व के रूप में।

२ पाप अशुभ आस्रव व बन्ध को हेय (त्याज्य) तत्त्व के रूप में।

३. पुण्य, शुभ आस्रव संवर, निर्जरा और मोक्ष को उपादेय (ग्राह्य) तत्त्व के रूप में।

इस प्रकार ज्ञेय, हेय व उपादेय के रूप में स्वीकार करें।

(१) ज्ञेय के प्रति उदासीन भाव रखना उचित समझे, राग द्वेष न करके ज्ञायक बने। (२) हेय के प्रति त्याज्य भाव कर अरुचि प्रकट करे व (३) उपादेय के प्रति आदरणीय समझ कर रुचि, रस और उत्साह रखें।

१२.

जीव का मौलिक व विकृत रूप

जीव के मूल स्वरूप में अनन्त ज्ञान है। इसका ज्ञान-स्वभाव ही उसे जड़ द्रव्य से पृथक् करता है। यह ज्ञान यदि इसका स्वभाव न हो तो किसी बाह्य तत्त्व की शक्ति नहीं कि इसमें ज्ञान को प्रकट कर सके। क्योंकि फिर प्रश्न होता है कि वह तत्त्व जड़ में ज्ञान क्यों नहीं प्रकट करता है? जब ज्ञान जीव का स्वभाव है तब सोचने योग्य है कि क्या यह ज्ञान गुण मर्यादित होना चाहिये याने अमुक ज्ञेय वस्तु को ही जान सकता है? उसे मर्यादित नहीं कह सकते, क्योंकि मर्यादा का माप कौन तय कर सकता है कि इतना ही माप होता है अधिक या कम नहीं। इसीलिये कहिये कि जैसे काच के सामने जितना आता है उतने सभी का प्रतिबिंब प्रकट होता है, इसी तरह ज्ञान संसार की प्रत्येक ज्ञेय वस्तु को जान सकता है। जैसे बांस के टोलिये के नीचे ढंके हुए दीप का प्रकाश जितना छेद से बाहर आता है उतना ही बाह्य वस्तु को प्रकाशित करता है उसी तरह कर्म से आच्छादित आत्मा का प्रकाश छिद्र में से जितना बाहर निकलता है उतना ही ज्ञेय वस्तु का प्रकाश होता है, वह उतने ही विषय को जानता है। बाकी जीव के मूल स्वरूप में तो अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र याने वीत-रागता है अक्षय अजर अमर स्थिति है, निराकार अवस्था है, अगुरु-लघु स्थिति है अनन्त वीर्य आदि शक्तियाँ है एक महारत्न या सूर्य के

तेज की तरह ये आठ मूल स्वरूप हैं लेकिन जिस तरह सूर्य पर बादल आ जाते हैं या खान में पड़े रत्न पर मिट्टी जम जाती है उसी तरह जीव भी आठ तरह के कर्म पुद्गलों से आच्छादित हो गया है दब गया है इससे उसका मूल स्वरूप प्रकट नहीं होता परन्तु प्रत्येक कर्म आवरण के कारण इसमें मैला स्वरूप प्रकट है। जैसे ज्ञानावरण कर्म के कारण अज्ञान प्रकट दिखता है दर्शनावरण कर्म के कारण दर्शन शक्ति मंद हो जाने से अन्धापन या बहरा आदि व निद्रा प्रकट हुई है। आठों कर्मों के कारण विकृति (खराबी) आई हुई है। (यह समझने के लिए चित्र प्रारम्भ में शामिल)

यहाँ ध्यान रखने का है कि चित्र की सरलता के लिये सूर्य या रत्न के मात्र एक एक भाग में ही एक एक प्रकाश, बल व आनंद बताये हैं, बाकी आत्मा में तो प्रत्येक प्रकाश आदि विशेषता आत्मा के सर्व भाग में व्याप्त है। इसमें ज्ञाना०—दर्शनावरण का स्वरूप ऊपर देखा। अब आगे वेदनीय कर्म से देखें वेदनीय कर्म से आत्मा का मूल स्वतंत्र सहज सुख दब कर कृत्रिम पराधीन क्षणिक साता असाता खड़ी हुई है। मोहनीय कर्म रूप आवरण से मिथ्यात्व राग-द्वेष अज्ञान इत्यादि काम क्रोधादि प्रकट हुआ करते हैं। आयुष्य कर्म से जन्म, जीवन मरण का अनुभव करना पड़ता है। नाम कर्म के कारण शरीर मिलने से जीव अरूपी होते हुए भी रूपी (साकार) जैसा हो गया है। इसमें इन्द्रियाँ गति यश अपयश सौभाग्य दुर्भाग्य सुस्वरता दुःस्वरता आदि प्रकट होते हैं। गोत्र कर्म के कारण ऊंचा नीचा कुल मिलता है व अन्तराय कर्म के कारण कृपणता दरिद्रता, पराधीनता व दुर्बलता प्रकट हुई है।

इस प्रकार जीव में मूल स्वरूप अनन्त, शुद्ध व अविचल अनुपम होते हुए भी कर्मों के बंधन के कारण जीव दुःखी मलीन विकृत स्वरूप वाला बन गया है। यहाँ कहे अनुसार यह विकृति किसी

विशेष समय से शुरू नहीं हुई है, पर कार्य-कारणभाव के नियम अनुसार अनादि अनन्त काल से चलती आई है। पुराने २ कर्म पकते जाते हैं त्यों-त्यों वे इन विकारों को प्रगट करते जाते हैं और फिर वे आत्मा से छूट जाते हैं। पर इसके पीछे के कर्म फिर पक २ कर ऐसे फल दिखाते रहते हैं जिससे विकारों की सतत धारा चालू रहती है। दूसरी तरफ नये २ कर्म खड़े होते जाते हैं व ये स्थिति काल में पकने पर विकार दिखाते रहते हैं। इस तरह संसारधारा अनादि से प्रवाहित ही है। ये तो कर्म को चिपकाने वाले आश्रवों को बन्द करें व संवर की साधना करे तो नये कर्म आने से रुकें व निर्जरा (तप) सेवित हों तो पुराने समाप्त हो। फिर एक दिन जीव सर्व कर्म से रहित बन कर मोक्ष पा सके। अपने अनन्त ज्ञानादि के मूल स्वरूप एक बार पूर्ण प्रकट हो जाएँ तो फिर कोई भी आश्रव न रहने से कभी भी कर्म लगने का नहीं और संसार अवस्था प्राप्त होने की नहीं।

स्थावर जीव याने जो कैसी भी स्थिति में, कैसे भी उपद्रवों में-स्वेच्छा से चल फिर न सकें। ऐसे जीवों को केवल स्पर्शनेन्द्रिय याने अकेला शरीर ही होता है पर दूसरी रसनेन्द्रिय आदि या हाथ पाव आदि नहीं होते। यह शरीर पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु या वनस्पति स्वरूप होता है।

पृथ्वी रूपी काया को धारण करने वाला यह पृथ्वीकाय जीव,
पानी (अप) रूपी काया को धारण करने वाला अप्काय जीव,
अग्नि रूपी काया को धारण करने वाला तेजस्काय जीव,
वायु रूपी काया को धारण करने वाला वायुकाय जीव,
वनस्पति रूपी काया को धारण करने वाला वनस्पतिकाय जीव।

ऐसे स्थावर जीव के पृथ्वीकायादि रूप पांच प्रकार हैं। ध्यान रहे कि पानी में पूतरक (पोरे) आदि जीव तो अलग हैं पर स्वयं पानी भी किसी जीव का शरीर है। इस पानी स्वरूप शरीर को धारण करके रहने वाला जीव अप्काय जीव है। बहुत ही सूक्ष्म छोटे बिंदु के असंख्यवें हिस्से के रूप में शरीर को एक जीव धारण करता है और वे असंख्य इकट्ठे होते हैं तो बिंदु के रूप में अपने को दिखाई देते हैं। ऐसे ही पृथ्वीकाय, तेऊकाय, वाउकाय व साधारण निगोद वनस्पति काय के लिये समझना चाहिए। निगोद याने ऐसा शरीर कि जिसे एक शरीर को धारण कर अनंत जीव रहते हैं अत ऐसे जीव को साधारण वनस्पति काय या अनंतकाय जीव कहते हैं। इन पाचों स्थावर जीवों में कौन २ गिने जाते हैं, उसका कोष्टक पीछे है —

इसमें एकेंद्रिय से चतुरिंद्रिय तक सब जीव तिर्यंच गति में गिने जाते हैं। चारों प्रकार के पचेंद्रिय जीवों की समझ इस रीति से—

नारक	तिर्यंच		मनुष्य	देव
नीचे नीचे रत्न प्रभा शर्करा प्रभा वालुका प्रभा पक प्रभा धूम प्रभा तम प्रभा महातम प्रभा— इन सात पृथ्वियों में नरक के जीव हैं।	जलचर मछली मगर स्थलचर भुज परिसर्प— गिरोली, नेवले, उरपरिसर्प साप अजगर। चौपाये जगली शहरी पशु।	खेचर चिड़िया कौए तोते उल्लू चम- गीदड़	कर्म भूमि के अकर्म भूमि के अतर द्वीपके	भवनपति व्यंतर ज्योतिष वैमानिक इनमें प्रथम दो पाताल में हैं। ज्योतिष —सूर्य चद्र आदि हैं। वैमानिक में १२ देवलोक के ९ ग्रैवेयक के व ५ अनुत्तर विमान के हैं।

१० प्राण :–जीव में १० प्रकार की प्राण-शक्ति है। ५ इन्द्रियों की शक्ति, ३ मन वचन काया का बल, १ श्वासोच्छ्वास, १ आयुष्य। एकेन्द्रिय जीव के १ इन्द्रिय + १ कायबल+उच्छ्वास + आयु = ४ प्राण। द्वीन्द्रिय से वचन वल व एक २ इन्द्रिय बढती है। पंचेन्द्रिय में मन बिना के भी जीव होते हैं इनके ९ प्राण होते हैं। ये असंज्ञी कहलाते हैं। सज्ञी पचेन्द्रिय को मन सहित १० प्राण होते हैं। सज्ञी याने संज्ञा वाला, संज्ञा याने आगे पीछे के कार्यकारण-भाव को विचारने की शक्ति।

चौरासी लाख योनि :–जीवों के जन्म के लिये ८४ लाख योनि हैं। योनि याने उत्पत्ति-स्थान जो समान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाले पुद्गल का हो तो एक ही योनि होती है, ऐसे पृथ्वीकायादि जीव की निम्नाकित योनिया होती हैं।

पृथ्वी०	अप्०	तेऊ०	वाऊ०	साधा० वन०	प्रत्येक वन०
७ लाख	७ लाख	७ लाख	७ लाख	१४ लाख	१० लाख

द्वीन्द्रिय	त्री०	चतु०	देवता	नारक	तिर्यं० पं०	मनुष्य
२ लाख	२ लाख	२ लाख	४ लाख	४ लाख	४ लाख	१४ लाख

स्थिति-अवगाहना : उन २ जीवों के शरीर-मान को अवगाहना कहते हैं और आयुष्यकाल को स्थिति कहते हैं। इसका विस्तार 'जीवविचार' बृहत् सग्रहणी आदि शास्त्रों में है।

कायस्थिति : जीव मर २ कर सतत वैसी की वैसी काया में अधिक से अधिक कब तक बार २ जन्म ले सकता है, याने उसकी काय-स्थिति कितनी लम्बी है? इसके उत्तर में, स्थावर अनन्तकाय में अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल, अन्य स्थावर

१५.

पुद्गल--८ वर्गणा

आश्रव से जीव के साथ कर्म चिपकते है। ये कर्म जड पुद्गल है। पुद्गल के मुख्यत उपयुक्त आठ प्रकार याने आठ वर्गणा है। इनमें आठवी वर्गणा कार्मण वर्गणा में से कर्म बनते हैं। ये आठ प्रकार (वर्गणा) इस तरह हैं,—

पहले देख चुके है कि पृथ्वी (मिट्टी, पाषाणादि) जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किये हुए शरीर स्वरूप है। जीव की मृत्यु होने पर वह उस शरीर रूप पुद्गल को छोड़ देता है। अत शरीर अचेतन, निर्जीव, अचित्त बन जाता है। तथा इन पुद्गलों को जैसे रूप मे याने टूट फूट कर परिवर्तन रूप में भी जीव यदि ग्रहण करे तो पुन सजीव, सचित्त, सचेतन बन जाते हैं। फिर जीव इन्हें छोड़ दे तब वह अचेतन बन जाते हैं। अनादि काल से यह घटना चली आ रही है।

इस पुद्गल के बारीक से बारीक अश को अणुपरमाणु कहते हैं। दो परमाणु मिलते हैं तो द्वयणुक-द्विप्रदेशिक स्कध, तीन मिलें तो त्र्यणुक-त्रिप्रदेशिक, व चार मिले तो चतु प्रदेशिक, सख्यातीत मिलें तो सख्यातीतप्रदेशिक, असख्यात मिले तो असख्यातप्रदेशिक व अनत मिले तो अनंतप्रदेशिक स्कन्ध बनते है। सर्वज्ञ की दृष्टि के सूक्ष्म अनन्त अणु से बने स्कन्ध को व्यवहारिक परमाणु कहते हैं। आज के विज्ञान के अनुसार अणु का भी विभाजन हो सकता है यह इस वस्तु की पुष्टि करता है। अन्यथा खरा अणु वही है जो अंतिम माप है, जिसका अब फिर विभाजन न हो सके।

ये शब्द से भी सूक्ष्म हैं। अत हवा रहित वैक्युम (Vacoum) इलेक्ट्रीक गोले में भी अग्निकाय जीव ग्रहण कर जीता है। ध्यान में रखें कि हवा तो वायुकाय जीव का औदारिक शरीर-पुद्गल है श्वासोच्छ्वास के पुद्गल तो इससे भी अधिक सूक्ष्म है। अतएव भोजन पानी की तरह वायु भी आवश्यक है। पर सब जीवों को इसकी आवश्यकता पड़ती ही है ऐसा नहीं है, जैसे मछली, मगर को।

(७) जैसे अपने बोलने के लिये भाषा वर्गणा के पुद्गल काम आते हैं, वैसे ही विचार करने के लिये मनोवर्गणा के पुद्गल काम आते हैं। नये २ शब्द की तरह नये २ विचार के लिये नये २ मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं। उन्हें जब मन रूप बनाकर छोड़ा जाता है तब विचार स्फुरित होते हैं।

(८) आठवी कार्मण वर्गणा है। जीव मिथ्यात्वादि एक या अनेक आश्रव का सेवन करता है तब कार्मण पुद्गल जीव के साथ लगकर कर्म रूप बन जाते हैं।

इन आठ वर्गणा के अलावा भी दूसरे शून्य प्रत्येक, बादर आदि वर्गणा के पुद्गल हैं। पर जीव के लिये निरुपयोगी हैं। उपयोगी मात्र आठ वर्गणा हैं। प्रकाश, प्रभा, अन्धकार, छाया, ये सब औदारिक पुद्गल हैं। इसमें प्रकाश के पुद्गल अन्धकार रूप बन जाते हैं। छाया पुद्गल प्रत्येक स्थूल शरीर में से वैसे २ रंग के बाहर निकलते हैं, कान्वेक्स लेन्स के आरपार होकर सफेद कागज या कपड़े पर पड़े वैसे रंग के दिखते हैं। फोटोग्राफर की प्लेट पर छाया पुद्गल पकड़े जाते हैं, इससे प्लेट पर चित्र बनता है।

जमीन में बोये बीज में जीव अपने कर्म के अनुसार वैसे २-पुद्गल आहार के रूप में ग्रहण करते हैं। इसमें से अंकुर, डंडी, पत्र पुष्प, फल आदि बनते हैं। वे जमीन खाद, पानी से बिल्कुल विलक्षण

वर्ण रस गंध स्पर्श वाले होते हैं। इससे पता चलता है कि स्वतंत्र जीव द्रव्य व कर्म की शक्ति के बिना यह व्यवस्थित सर्जन बन नहीं सकता।

१६

आस्रव मिथ्यात्व

जीव को प्राप्त पाँचे इन्द्रिय एवं मन-वचन-काया का बल मिला है, आयु व श्वासोच्छ्वास है, पर इनके दुरुपयोग से जीव कर्म बंधन से बंधा जाता है। यह दुरुपयोग आस्रव-सेवन कहलाता है। कर्म बंधवाने वाले आस्रव कौन से हैं इसका अब विचार करें —

इन्द्रियाँ अव्रत कषाय योग व क्रिया ये ५ आस्रव हैं। अथवा हिंसा झूठ, अदत्तादान मैथुन परिग्रह, क्रोधादि ४ कषाय राग द्वेष कलह आरोप लगाना चुगली हर्ष-उद्वेग निंदा माया मृषावाद मिथ्यात्वशल्य ये भी आस्रव हैं, पापस्थानक हैं।

अथवा मिथ्यात्व अविरति कषाय, योग और प्रमाद ये पाँच आस्रव हैं। इसमें उपरोक्त इन्द्रिय अव्रत आदि का समावेश हो सकता है। क्यों कि इन्द्रियाँ व अव्रत ये अविरति में समा सकते हैं, तथा क्रियाओं में से कोई मिथ्यात्व में कोई कषाय में कोई योग में कोई प्रमाद में समाविष्ट हो सकती है। अब यहाँ इन मिथ्यात्वादि पाँच का विचार करेंगे:—

मिथ्यात्व --मिथ्यात्व याने मिथ्या भाव, मिथ्या रुचि असद् आशय। पहले कहे हुए जिनोक्त याने वीतराग सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे हुए जीव-अजीवादि तत्त्वों पर अरुचि व अज्ञानी द्वारा कहे हुए कल्पित तत्त्व पर रुचि। इसी तरह जिनेश्वर द्वारा कहे हुए सच्चे मोक्ष मार्ग पर रुचि नहीं पर अज्ञानियों द्वारा कहे हुए कल्पित मोक्ष मार्ग पर रुचि होना मिथ्यात्व है अथवा सुदेव सद्गुरु व सुधर्म पर रुचि न रखते कुदेव, कुगुरु व कुधर्म पर रुचि रखना मिथ्यात्व है। कुदेव, याने जिन मे राग द्वेष काम, क्रोध, लोभ, हास्य, विनोद, भय, अज्ञान आदि दोष होते है। कुगुरु वे हैं जिनमें अहिंसादि महाव्रत नहीं हैं। कंचन कामिनी रखें, रखावें, अनुमोदें कच्चे पानी, अग्नि और वनस्पति का सवध करें व पकावें पकवाए, व अनुमोदन करें। कुधर्म याने जिस धर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र नहीं, जीव अजीव आदि का यथास्थित स्वरूप नहीं कहा गया है, विषयसेवा, कषाय, आदिपापों को धर्म कहा है, कर्तव्य कहा है। ऐसे कुदेव, कुगुरु, कुधर्म पर आस्था, श्रद्धा, पक्षपात, रुचि होना मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व के पाच प्रकार:—

(१) अनाभोगिक मिथ्यात्व —याने ऐसी मूढता कि जहा तत्त्व-अतत्त्व किसी का आभोग याने ज्ञान नहीं है। ऐसी मूढता अनाभोगिक मिथ्यात्व है। मन रहित सब जीवों में यह होता है। (एकेंद्रिय से असज्ञी पंचेंद्रिय तक जीवों के मन नहीं होता।)

(२) आभिग्राहिक मिथ्यात्व —यानी मिथ्याधर्म पर दुराग्रह भरी आस्था। भले ही माने हुए धर्म पर युक्ति न सूझे, एव भले ही सरागी देव का धर्म ग्रहण किया फिर भी वही सच्चा धर्म है शेष सब धर्म खोटे हैं ऐसे कदाग्रह को आभिग्राहिक मिथ्यात्व कहते हैं।

(३) अनभिग्राहिक मिथ्यात्व—अर्थात् मिथ्या धर्म में फंसा हुआ हो पर इसका अभिग्रह यानि हठाग्रह न हो समझता हो कि सब धर्म मति वाले सब सच्चे हैं यह बोधवश नहीं हो सकता, मान मत्सर रखे बिना देव गुरु-धर्म की सेवा-उपासना में रहते हैं। यह मिथ्यात्व प्रायः अभ्यास मिथ्यात्वी जीवों का होता है।

(४) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व —यानी वीतराग सर्वज्ञ का धर्म मानते हुए भी उसमें कुछ बात न माने उससे विपरीत बात का अभिनिवेश दुराग्रह रखे।

(५) सांशयिक मिथ्यात्व —सर्वज्ञ प्रभु द्वारा कहे हुए तत्त्व पर शंका कुशंका करे।

मिथ्यात्व आत्मा का बड़े से बड़ा शत्रु है। क्यों कि यदि मूल में तत्त्व मोक्ष-मार्ग व देव गुरु धर्म पर आस्था ही नहीं तो पाप में तीव्र आसक्ति रहती है और सद्धर्म से दूर रहना होता है। मिथ्यात्व रख कर अनन्तबार किए गए त्याग तपस्यादि निष्फल हुए हैं।

❀ अविरति ❀

विरति याने प्रतिज्ञा पूर्वक पाप का त्याग। पापत्याग की प्रतिज्ञा न हो यह अविरति कहलाता है। कदाचित् हिंसादि पापक्रिया अभी जारी न हो फिर भी यदि यह न करने की प्रतिज्ञा नहीं तो यह अविरति ही है। इससे कर्म बंधन होता है।

प्रतिज्ञा का महत्व —

प्र० पाप न करें फिर भी कर्म बंधन कैसे होता है?

उ० जिस तरह धर्म करने से, कराने से, या मात्र अनुमोदन करने से या अपेक्षा करने से भी कर्म नाश होता है, इसी तरह स्वय पाप करने से, करवाने से, या पाप में अनुमोदन-अनुमति-समति-अपेक्षा रखने से भी कर्म बंधन होता है। अब देखें कि पाप न करने की प्रतिज्ञा क्यों नहीं की जाती? क्यों कि मन मे पाप की ऐसी अपेक्षा है कि' जो कि ऐसे तो पाप नहीं करू पर अवसर आवे तो करना पड़े, अत प्रतिज्ञा (नियम) नहीं करता है।' इसका अर्थ अभी भी हृदय में पाप के प्रति अपेक्षा है, राग है, किन्तु प्रतिज्ञा पूर्वक इसका त्याग नहीं कि 'पाप चाहिये ही नहीं' पाप की अपेक्षा भी पाप है इससे भी सतत बहुत ही कर्म बंधन होता रहता है। ये तो तब ही रुके जब निर्धार पूर्वक पाप को तिलाजली दी जावे, पाप को वोसिराया जायें। भले ही शिकार-लूट, कत्लखाना, आदि पाप जिन्हें जीवन में करने की कोई संभावना नहीं, इनके त्याग की भी प्रतिज्ञा की जाय तो इस संबंध के कर्म बंध होने से रुकता है। ऐसे जन्म २ में छोडे हुए अपने शरीर व पाप साधनों को निर्धारपूर्वक मन से प्रतिज्ञा रूप मे छोडे जाएं याने 'अब इनके साथ कोई संबंध नहीं, अधिकार नहीं,

कषाय (तीसरा आश्रव)

कष = ससार, आय = लाभ । कषाय वे है जो जीवको ससार का लाभ कराते हैं । क्रोध, अभिमान, माया-कपट, लोभ ये ससारका लाभ कराते हैं । अत वे कषाय कहलाते हैं । इन क्रोधादि के अनेक रूप हैं जैसे रागद्वेप, ईर्षा, वैर विरोध, तृष्णा, ममता, आसक्ति आदि । हास्य, शोक, हर्ष, उद्वेग, भय, घृणा व काम वासनादि कषाय के प्रेरक है तथ कषाय से प्रेरित भी होते हैं । अत एव ये नोकषाय कहलाते है । यहा आश्रव में जब मात्र कषाय की गणना की है तो नोकषाय का समावेश कषाय मे ही समझना चाहिये ।

कषाय मुख्यत चार हैं —क्रोध, मान, माया, लोभ । इन चार कषायों में प्रत्येक पुन चार २ प्रकार से होता है, अति उग्र, उग्र, मध्यम, और मद । इनके शास्त्रीय नाम क्रमश इस प्रकार है—अनंतानुबधी, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन ।

(१) अनतानुबधो —कषाय अनत का अर्थात् ससार का अनुबध करवाने वाला होता है, बंधन पर बंधन लादने वाले अर्थात् ससार को चलाने वाले हैं । ये कषाय सामान्यत मिथ्यात्व से सलग्न होते हैं, एव वे ऐसे अति उग्र हैं कि जीव इनमें अपना भान भी भूल जाता है, और उसको हिंसादि पाप और इष्ट अनिष्ट विषयों के पीछे ऐसे उग्र राग द्वेप का आवेश होता है कि इन्हें करने में उसे कुछ भी गलती नहीं मालूम होती । उसे ये पापरूप और अकरणीय नहीं लगते । इतने अधिक उग्र होने से ये सम्यक्त्व के घातक हैं । सम्यक्त्व तत्त्व-श्रद्धास्वरूप है इसमें पाप को पाप मानना, अकार्य को अकरणीय मानना अति आवश्यक है । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ,

ऐसी सम्यक्त्व नहीं होने देते यदि हुई हो तो ये कषाय जाग्रत होते ही उसे रोक देते हैं।

(२) अप्रत्याख्यानीय कषाय—याने वैसे कषाय कि जो हिंसादि पाप को बुरे मानने पर भी उनके त्याग का पच्चक्खाण (प्रत्याख्यान) याने विरति का मन-परिणाम जागृत नहीं होने देते; और अगर जागृत हुए हैं तो उसे तोड़ देते हैं। फलतः इन कषायों से अविरति खड़ी रहती है और देशविरति गुण भी नहीं आ सकता।

(३) प्रत्याख्यानावरण कषाय—अर्थात् जो सर्वथा पच्चक्खाण रोकने वाले नहीं परन्तु इसका विशेष आवरण खड़ा रखते हैं। याने पहली और दूसरी कक्षा के कषाय दब जाने से भले ही थोड़ा पच्चक्खाण होता है, पर ये तीसरी कक्षा के कषाय बड़े हो ऐसे पच्चक्खाण के ऊपर रोक लगाते हैं। जैसे कि पहले व दूसरे कषाय हट जाने से हिंसा को पापरूप माना, अकर्तव्य माना और त्रस जीवों की जानबूझ कर हिंसा करने का प्रतिज्ञापूर्वक रोका पर अभी भी इसकी हिंसा अन-जान रह कर भी नहीं करनी एवं जानते-अनजानते स्थावर जीवोंकी भी हिंसा न करनी न करानी इत्यादि प्रकार से हिंसा बंद नहीं की। ऐसी देश-अविरति प्रत्याख्यानावरण कषाय के कारण रहती है। याने यह कषाय सर्वविरति याने सर्वथा पापत्याग की प्रतिज्ञा को अटकाते हैं।

(४) संज्वलन कषाय—याने सहज ही चमकते हुए कषाय।

जीव अनंतानुबंधी आदि पूर्व की तीन कषाय चौकड़ी तोड़ने से यहाँ पाप के त्याग तक आ गया साधु बन गया पर अभी भी कुछ २ क्रोधादि चमकते हैं, यह इस संज्वलन कषाय का काम है। ये कषाय जीव के वीतरागता गुण को अटकाते हैं।

●

योग (चौथा आश्रव)

आत्मा के पुरुपार्थ से मन वचन-काया की होती हुई प्रवृत्ति को योग कहते हैं। याने जीव के विचार, वाणी, वर्ताव ये योग हैं। ये अच्छे हो तो शुभ कर्म और खराब हो तो अशुभ कर्म बंधाते हैं। इनमें मन के चार योग है। (१) सत्यमनोयोग —जिसमें वस्तु या वस्तुस्थिति जैसी हो वैसी ही विचार धारा चलती है। (२) असत्यमनोयोग —जिसमें वस्तु या वस्तुस्थिति से विपरीत व झूठी विचार धारा चलती है। (३) सत्यासत्य (मिश्र) मनोयोग —याने सच्ची झूठी मिश्रित विचार धारा। (४) व्यवहार मनोयोग — जिसमें सत्यता व असत्यता जैसा कुछ नहीं, उदाहरणार्थ कोई कामकाज की विचार धारा–जैसे सुबह जल्दी उठना चाहिये।

वचन योग के भी इस प्रकार सत्य वचनयोग आदि चार प्रकार हैं। वस्तु या वस्तु स्थिति के अनुसार बोलना यह सत्यवचन योग, झूठ बोलना यह असत्यवचन योग, आंशिक सत्य व आंशिक झूठ बोलना यह मिश्र वचन योग, 'तू जा', आप आईये' आदि बोलना यह व्यवहार वचन योग है।

काय योग ७ प्रकार के है। मनुष्य तिर्यंच का शरीर औदारिक-शरीर है, देव नारकीय शरीर वैक्रियशरीर है, और लब्धिधर चौदहपूर्वी महामुनि कार्य-प्रसग से बनावें वह आहारक शरीर है। इन प्रत्येक के पूर्ण शरीर से या इसके किसी अंग से या किसी इंद्रिय से या शरीर के भीतरी हृदय आदि से होने वाली प्रवृत्ति यह औदारिक० वैक्रिय० व आहारक काययोग, इस तरह ३ काय योग हुए।

जीव का परलोक में जन्म होते ही प्रथम समय में कोई नया शरीर तैयार नहीं हो जाता। इस समय कर्म-समूह रूप कार्मण शरीर

के सहारे से औदारिक पुद्गल शरीर बनाते बनाते हैं तब उस समय औदारिकमिश्र काययोग प्रवर्तमान कहलाता है। शरीर पूर्ण हो जाने के बाद शुद्ध औदारिक काययोग प्रवर्तमान कहा जाता है। इस तरह वैक्रियमिश्र व आहारकमिश्र मिलाने से कुल ३ मिश्रकाययोग हुए। अब जीव के मरने पर आते समय मार्ग में यदि दो बार मुड़ना होता है, तब पहली बार मुड़ने समय वहां न तो पहले छोड़े हुए शरीर के साथ कोई सम्बन्ध है या न नये बनने वाले शरीर के साथ भी कोई सम्बन्ध। अब वहां केवल कार्मण शरीर की प्रवृत्ति है, वह कार्मण काय योग कहलाता है। वहां कोई आहार पुद्गल करने का है नहीं इसी लिए यह अनाहारी अवस्था है। इस प्रकार औदा०-वै०-आहा०-तीनों का शुद्ध और मिश्रित इस तरह छः और एक कार्मण काययोग इस तरह कुल सात काययोग हैं।

कुल मन वचन और शरीर के पन्द्रह योग हैं। उसमें शुभ और अशुभ दो प्रकार हैं। सत्य मनोयोग, सत्य वचनयोग और धर्मसंबन्धी व्यवहार मन-वचनयोग ये शुभ हैं। वैसी तरह धर्मसंबन्धी शरीर, वचन इन्द्रिय की प्रवृत्ति रूप काययोग भी शुभ हैं। शेष अशुभ योग हैं। शुभ योग से पुण्य का लाभ मिलता है और अशुभ से पाप का।

● प्रमाद (पांचवा आश्रव) ●

प्रमाद यानी आत्मा को अपने स्वरूप में रमणता करने में से जो विचलित करे वह। मद विषय कषाय निद्रा और विकथा ये पांच प्रमाद हैं। वैसी तरह राग द्वेष अज्ञानता संशय भ्रम विस्मरण मन वचन काया का दुष्प्रणिधान और धर्म में अनादर-अनुत्साह इस तरह भी आठ प्रमाद हैं। सब पापों का त्याग कर चारित्र लिया परन्तु जीव वहां तक जरा सा भी प्रमाद से पराजित होता है वहां तक वह प्रमत्त मुनि है। प्रमाद छोड़ दे तो अप्रमत्त महामुनि बनता है।

इसके अतिरिक्त बाद मे भी अप्रमत्त मुनि को अभी भी कषाय खडे हैं परन्तु वे बहुत सूक्ष्म है, और अब तो अंतर्मुहूर्त काल में नष्ट हो सके या दब जाये वैसे हैं। वहा आत्मा की जबरदस्त जागृति अर्थात् उज्जागरण दशा है। इसीलिए उन अत्यल्प कषाय को प्रमाद नहीं कहते हैं। ये मिथ्यात्व, अविरति कषाय,योग व प्रमाद ये पाच आश्रव अपनी कक्षा के अनुसार सतत कर्म बध कराते हैं। 'कक्षा अनुसार' का अर्थ है कि मिथ्यात्वादि दोष जितने प्रबल होंगे, कर्म बधन भी उतने ही प्रबल होंगे।

१७—बध-८ कर्म-पापपुण्य

तेल का दाग वातावरण मे से धूल खींचता है और कपडे पर मिलजूल चिपका देते है। इसी तरह मिथ्यात्व कषाय आदि आश्रव बाहर के कर्मवर्गणा को खींच जीव के साथ बिल्कुल चिपका देते हैं। यदि प्रतिसमय मिथ्यात्वादि क्रियाशील हैं तो आत्मा के साथ कर्म का सबध भी प्रति समय लगता ही रहता है।

कर्म चिपकने के साथ ही इसमे अलग २ स्वभाव (प्रकृति), आत्मा पर टिकने का समय (स्थिति), फल की तीव्र-मदता (रस), अमुकदल-प्रमाण (प्रदेश) तय हो जाते हैं। इनका ही नाम प्रकृति-बध, स्थितिबध, रसबध, प्रदेशबध है। एक समय लगे हुए कर्म में अमुक विभाग की अमुक प्रकृति, दूसरे की दूसरी प्रकृति, एवं अमुक दल की अमुक स्थिति और दूसरे की दूसरी, तथा अमुक दल का अमुक रस, दूसरे का दूसरा ऐसा निश्चित हो जाता है।

उदाहरणार्थ —अमुक कर्म-विभाग की प्रकृति ज्ञान को दबाने की निश्चित हुई यह प्रकृति बध है, और यह कर्म विभाग ज्ञाना-वरणीय कर्म कहलाता है। ऐसे इसका स्थिति काल अमुक सागरोप-मवर्ष-प्रमाण निश्चित हुआ यह स्थिति बध है। इस का रस तीव्र या मन्द तय हुआ यह रसबध, और इसमें पुद्गल का अमुक प्रमाण

★ ८ करण ★

जैन शास्त्र कहते हैं कि कर्म जो आत्मा के साथ सम्बद्ध हुए वे सभी उसी रूप में और उसी रीति से उदय को प्राप्त हों ऐसा नियम नहीं अर्थात् उनके प्रकृति, स्थिति और रसमें परिवर्तन भी होता है। इसका कारण जीव जैसे कर्म का बंधन करता है इस प्रकार सक्रमणादि भी करता है, इस बधन, सक्रमण आदि की प्रक्रिया को करण कहते हैं।

करण आठ है—बधनकरण, सक्रमणकरण, उद्वर्तनाकरण, अपवर्तना०, उदीरणा , उपशमना०, निधत्ति० और निकाचनाकरण।

(१) बधनकरण मे भिन्न-भिन्न आश्रव के कारण से निर्माण होने वाले कर्मबन्ध की प्रक्रिया आती है। (२) सक्रमणकरण में एक जात के कर्मपुद्गल का उसी जात के अन्य स्वरूपवाले कर्म पुद्गल में सक्रमण (तद्रूप मिलन) होने की प्रक्रिया आती है। सक्रमण अर्थात् वर्तमान समय में बधाते हुए कर्म पुद्गल में पूर्व के निधिगत कर्म में से कितने एक का मिल जाना और तद्रूप हो जाना। उदा०—अभी शुभ भावना के बल से शाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता हो, तब इसमे पूर्वसचित कितने एक अशातावेदनीय कर्मपुद्गल समिलित हो शातास्वरूप बन जाएगा, यह अशाता का सक्रमण हुआ। इसी प्रकार वर्तमान में अशुभ भावनावश बधाते हुए अशाता में पूर्वबद्ध कितने एक शाताकर्म पुद्गलों का सक्रमण होने से वे अशाता रूप बन जाएँगे। (३-४) उद्वर्तना-अपवर्तना करण में पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति एव रस की वृद्धि-हानि होती है। उदा०—शुभ भाव के बल से अशुभ कर्मों के रस में हानि एव शुभ कर्मों के

रस में वृद्धि होती है। अशुभ भाववश इससे विपरीत होता है।
● (५) उपशमना मात्र मोहनीय कर्म में होती है। यहाँ विशिष्ट शुभ अध्यवसाय के प्रभाव से भावी अन्तर्मुहूर्त काल के समस्त दर्शनमोहनीय या चारित्रमोहनीय कर्मों को स्थितिपरिवर्तन से ऊपर व नीचे की स्थिति के कर्मों में डाला जाता है; तब यह अन्तर्मुहूर्त काल किसी भी दर्शनमोह या चारित्रमोह कर्म के उदय बिना न रहने से वहां उसका उपशम भाव होता है। ● (६) उदीरणा करण से आगे उदय आने वाले कर्मों को अभी उदय में खींच लाया जाता है।
● (७) निधत्ति करण में कर्मों को अध्यवसायवश ऐसे किए जाते हैं कि अब इनके पर उद्वर्तना-अपवर्तना करण के सिवा अन्य कोई करण लग ही नहीं सके अर्थात् दूसरे करणों के अयोग्य हो जाए।
● (८) निकाचना करण में प्रबल अध्यवसाय वश कर्मपुद्गलों को सभी करणों के अयोग्य किये जाते हैं; अब इनमें न कोई संक्रमण न उद्वर्तना अपवर्तना इत्यादि हो सकता है। तीव्र अशुभ अध्यवसाय से अशुभ कर्म निकाचित होते हैं, तीव्र शुभ से शुभ कर्म।

इस पर से समझ में आएगा कि कर्म का बंध होने के बाद सभी कर्म वैसे के वैसे रहते हैं ऐसा नहीं; परन्तु इनके कितने एक पुद्गलों का न्यूनाधिक स्थिति रस की उद्वर्तना अपवर्तना, संक्रमण इत्यादि परिवर्तन होता है। इसलिए ध्यान में रहे कि आत्मा अगर निरन्तर वैराग्य, जिनवचनरुचि तथा क्षमा विनयभाव शुभभावना आदि में रहे तब नया पुण्य तो अवश्य उपार्जित होता ही है, उपरान्त कितने एक पुराने पाप कर्मों का पुण्य में संक्रमण परिवर्तन पुराने पाप कर्म की स्थिति रस में हानि पुराने पुण्य कर्म की स्थिति रस में वृद्धि इत्यादि का भी लाभ होता है। इससे विपरीत विषयराग द्वेष ईर्ष्या-काम क्रोध आदि कषाय मिथ्यात्व इत्यादि अशुभ भाव से बिलकुल उल्टा होता है। इसलिए पुण्य एवं पापरूप के अनुपम लाभार्थ हृदय सदा पवित्र व शुभ भाव से संपन्न रखना।

८ कर्मों के अवान्तर भेद १२०

पहले ज्ञानावरण आदि ८ कर्म कह आये। इनके अवान्तर प्रकार इस प्रकार हैं, —

(१) ज्ञानावरण ५ हैं, —१ मति ज्ञानावरण, २ श्रुत ज्ञानावरण, ३ अवधि ज्ञा०, ४ मन पर्यव ज्ञा०, और ५ केवल ज्ञानावरण ये आत्मा के मति आदि ज्ञान को रोकते हैं। मतिज्ञान = इन्द्रिय और मन से उत्पन्न ज्ञान। श्रुतज्ञान = शास्त्र, उपदेश आदि से निष्पन्न शब्दानुसारी ज्ञान। अवधि० = इन्द्रिय या शास्त्र की अपेक्षा बिना सीधा आत्मा को होने वाला रूपीद्रव्यों का प्रत्यक्ष। मन पर्यव० = ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन का प्रत्यक्ष। यह अप्रमत्त मुनियों को ही होता है। केवलज्ञान = सब काल के सकल पर्याय सहित समस्त द्रव्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान। मतिज्ञान में ४ अवस्था हैं - अवग्रह, ईहा अपाय और धारणा। अवग्रह = प्राथमिक सामान्य ख्याल, ईहा = ऊहापोह, अपाय = निर्णय, धारणा = अविस्मरण।

(२) दर्शनावरण ९ हैं —१ चक्षुदर्शनावरण, (चक्षुदर्शन न हो सके), २ अचक्षुदर्शना० (दूसरी इन्द्रियों से जान न सके), ३ अवधिदर्शना०, ४ केवल दर्शनावरण। (रूपी द्रव्य व समस्त द्रव्यों का सामान्य प्रत्यक्ष न हो सके) ये ४ + ५ निद्रा। १ निद्रा = आसानी से जाग सके ऐसी, २ निद्रानिद्रा = कष्ट से जाग सके ऐसी, ३ प्रचला = बैठे या खड़े आती हुई निद्रा, ४ प्रचलाप्रचला = चलते २ आने वाली निद्रा, ५ स्त्यानर्द्धि = जिसमें जागृत की तरह उठकर दिवस में चिंतित कठोर कार्य करे ऐसी निद्रा। पहले चार दर्शनावरण कार्य दर्शनशक्ति को रोकते हैं, और ५ निद्रा प्राप्त दर्शन का समूचा घात करती है।

(३) मोहनीय कर्म २८ प्रकार है,—१ दर्शन मोह = मिथ्यात्व कर्म (जिसके उदय से असत्य पर रुचि हो और सर्वज्ञोक्त तत्त्व पर रुचि न हो) + २५ चारित्र मोहनीय कर्म (१६ कषाय मोह + ९ नोकषाय मोह) कष यानी संसार का लाभ = आय जिससे हो वह कषाय कहलाता है। क्रोध-मान-माया-लोभ इन चार के प्रत्येक के पूर्वोक्त अनन्तानुबंधी आदि ४-४ प्रकार होने से १६ कषाय होते हैं। नोकषाय = कषाय के उत्तेजक या कषाय से प्रेरित एवं कषाय सदृश हास्यादि ९,— हास्य, शोक, रति (इष्ट में खुश होना) अरति (अनिष्ट में उद्वेग नाराजी), भय (स्वसंकल्प से डर), जुगुप्सा (दुर्गंछा), पुरुषवेद (स्त्री के संयोग न करने की इच्छा की तरह जिस कर्म के उदय में स्त्री भोग की अभिलाषा हो), = स्त्रीवेद पुरुष भोग की कामना, नपुंसकवेद—स्त्री-पुरुष दोनों के भोग की इच्छा।

(४) अन्तराय कर्म ५ प्रकार के हैं,—१ दानान्तराय-२ लाभान्तराय ३ भोगान्तराय-४ उपभोगान्तराय-५ वीर्यान्तराय कर्म ये पांच क्रमशः दान देने में, इष्ट-लाभ होने में, एक बार भोग्य अन्नादि के भोग में, अनेकशः भोग्य वस्त्रालंकारादि के भोग में और आत्मवीर्य प्रकट होने में विघ्नभूत हैं।

ज्ञानावरण आदि ये चार कर्म घाती कर्म हैं। अब शेष ४ अघाती कर्म में —

(५) वेदनीय कर्म २ प्रकार का,—१ शातावेदनीय, जिसके उदय से आरोग्य व इन्द्रियसुख का अनुभव हो; २. अशातावेदनीय इससे विपरीत।

(६) आयु कर्म ४ प्रकार का,—नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव के भव में जीव को उतना काल पकड़ रखने वाला।

(७) गोत्रकर्म २ प्रकार का,—१ उच्च गोत्रकर्म जिसके उदय

से ऐश्वर्य सत्कार-सन्मान आदि के स्थानभूत उत्तम जाति कुल प्राप्त हो, २ नीचगोत्र कर्म इससे विपरीत हीन जाति कुल देने वाला।

(८) नामकर्म ६७ प्रकार का,—४ गति, ५ जाति, ५ शरीर, ३ अङ्गोपाङ्ग, ६ संघयण, ६संस्थान, ४ वर्णादि, ४ आनुपूर्वी, २ विहायोगति—ये ३६ पिंड प्रकृति + ८ प्रत्येक प्रकृति + २० त्रसदशक व स्थावरदशक = ६७। (पिंड प्रकृति = अवान्तर प्रकृतियों के समूहवाली प्रकृति)

(१)४ गतिनामकर्म—नर्क—तिर्यंच—मनुष्य—देव की गति का पर्याय देने वाला। ५ जाति०—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की कोई जाति देने वाला, यह हीनाधिक चैतन्य का व्यवस्थापक है। (२) ५ शरीर०-(शीर्यते इति = जो शीर्ण विशीर्ण होता है यह शरीर) औदारिक-वैक्रिय-आहारक-तैजस-कार्मण शरीर देने वाला। (औदारिक = उदार स्थूल पुद्‌गल से बना हुआ, तिर्यंच व मनुष्यों का, वैक्रिय = विविध क्रिया छोटा-बड़ा, एक-अनेक हो सके ऐसा शरीर देव और नर्क का, आहारक = तीर्थंकर देव की समृद्धि देखने या संशय पूछने के लिए १४ पूर्वधर मुनि से बना कर भेजा जाने वाला, तैजस = आहारपाकादि करने वाला तैजस पुद्‌गल से निर्मीत, कार्मण = आत्मा पर लगा हुआ कर्म का समूह) (३) ३ अङ्गोपाङ्ग०-जिनके उदय से औदा० वै०आहा०शरीर में मस्तक छाती-पेट पीठ-दो दो हाथ-पेर, ये आठ अङ्ग व अङ्गुली आदि उपाङ्ग मिले। एकेन्द्रिय जीव को उपाङ्ग नामकर्म न होने से अङ्गोपाङ्ग नहीं होते हैं। शाखा-पत्रादि जो हैं वे तो भिन्न भिन्न जीवों के शरीर होने से अङ्गोपाङ्ग नहीं है। (यहा शरीर नाम० के अन्तर्गत बन्धन०-संघातन नाम कर्म हैं) -(४)५ बंधन०जिसके उदय नये लिये जाने वाले औदारिकादि पुद्‌गलों को पुराने के साथ लाख की तरह एकमेक चिपक जाते हैं। (५) ५ संघातननामकर्म = नियत मान वाले शरीर के रचयिता पुद्‌गल समूह को, दंताली की तरह,

को ताप युक्त प्रकाश करने वाला शरीर मिले, जैसे सूर्य विमान के रत्नजीव का शरीर। (अग्निजीवों के तो उष्णस्पर्श एवं रक्तवर्ण से ही ताप प्रकाश होता है, आतपनाम० से नहीं) ६ उद्योतनाम० —जिससे शरीर ठंडा प्रकाश देने वाला मिले। ७ निर्माणनाम० —सुतार की तरह अंगोपाङ्गों को अपने २ योग्य स्थान में रचने वाला कर्म। ८ जिन(तीर्थंकर)नामकर्म —जिसके उदय से अष्ट महाप्रातिहार्य की अलकृत दशा में धर्मशासन की स्थापना करने का मिले।

१०-१० प्रकृति त्रसदशक-स्थावरदशक की —१ त्रसनामकर्म- जिसके उदय से जीव को त्रसपन प्राप्त हो,-ऐसी काया कि जो दु ख से कपमान हो, धूप आदि से बचने के लिए इच्छानुसार सरका सके। इससे विपरीत स्थावर काय ऐसी होती है कि फिरा सके नहीं, जैसे, पृथ्वीकायादि। २ बादरनामकर्म, जिसके उदय से चर्म चक्षु से दृश्यमान काया प्राप्त हो। इससे विपरीत सूक्ष्म काया ऐसी होती है कि वह अन्य कितने ही सूक्ष्म शरीरों से मिली हुए होने पर भी अदृश्य ही रहती है। ३ प्रत्येकनामकर्म, जिसके उदय से जीव को अपना एक स्वतन्त्र शरीर प्राप्त होता है। इससे विपरीत साधारणनामकर्म से अनन्त जीवों से गृहीत एक शरीर मिलता है। ४ पर्याप्त नाम० जिसके उदय से पूर्वोक्त स्वयोग्य आहारादि पर्याप्ति (ग्रहण-परिणमन शक्ति) पूर्ण प्राप्त हो। ५ ६ स्थिरनाम०-शुभनाम० के उदय से अङ्गोपाङ्ग स्थिर एवं शुभ मिले। ७ सौभाग्यनाम० के उदय से बिना उपकार भी दूसरों के स्वागत आदि सौभाग्य प्राप्त होता है। ८. सुस्वर नाम० कोयल- सी मधुर ध्वनि देता है। ९ आदेयनाम० कर्म से नियुक्तिक भी अपना वचन दूसरों से ग्राह्य होता है। १० यशनामकर्म के उदय से लोगों में अपना यश प्रसरता है।

स्थावर दशक में इन सब से विपरीत स्थावर-सूक्ष्म-साधारण-अपर्याप्त-अस्थिर-अशुभ-दौर्भाग्य-दु स्वर अनादेय और अपयश नाम-कर्म आते हैं। विपरीत फल देते हैं।

कुछ पाप रूप है, जैसे कि नर्क आयु पाप कर्म है व देव-मनुष्य-तिर्यंच आयुष्य ये पुण्य कर्म है। यहा तिर्यंच आयु को पुण्य कर्म इसलिये कहा कि तिर्यंच जानवर को भी आयु को बनाये रखने अर्थात् जीने की इच्छा रहती है। इतना ध्यान मे रहे कि उसे पशु जीवन याने तिर्यंच-गति अच्छी नहीं लगती, तो तिर्यंच गति पापकर्म है।

४२ पुण्यकर्म —शाता १, उच्चगोत्र १, आयु ३, (नरकायु बिना) मनुष्यदेव की गति,आनुपूर्वी ४,व पचेंद्रिय जाति १,५ शरीर,३ अगोपाग, २ प्रथमसंघयण प्रथम सस्थान, ४ शुभवर्णादि, १ अच्छी चाल, १ उप-घात बिना ७ प्रत्येक प्रकृति, १० त्रसादि = ४२।

८२ पापकर्म —१ अशाता, १ नीचगोत्र, १ नर्कायु, ४ नर्क-तिर्यचगति व आनुपूर्वि, ४ एकेन्द्रियादि जाति, १० अप्रशस्तसघयण संस्थान, ४ अशुभ वर्णादि, १ खराबचाल, १ उपघात, १० स्थावरादि ४५ घाति = ८२।

● परावर्तमान, अपरावर्तमान ●

कितने ही कर्म ऐसे है कि जो परस्पर विरुद्ध होने से एक साथ बंधाते या भोगने मे आते नहीं,किंतु बारी २ बंध या उदय में आते हैं। इन्हें परावर्तमान कहते हैं। जैसे शाता वेदनीय बधता हो तब अशाता वेदनीय बधता नहीं है। शाता० उदय मे हो तो अशाता उदय में नहीं होता। अशाता बधाती हो तो शाता वेदनीय नहीं। त्रस दसक बध या उदय मे हो तो स्थावर दसक नहीं। अत इसे परावर्तमान कहते हैं। शेष जिसका प्रतिपक्षी न हो वह अपरावर्तमान है, जैसे ५ ज्ञानावरण कर्म।

बध मे परावर्तमान —७० प्रकृति हैं,—५५ नाम कर्म की—३३ पिंड प्रकृति (४ वर्णादि और तैजस कार्मण बिना) + २ आतप-उद्योत + २० दो दसक + ७ मोहनीय (रति, अरति, हास्य, शोक, ३ वेद) + २ वेदनीय + २ गोत्र + ४ आयुष्य = ७०। इनमें उस उस युगल

प्र०—शुभ कर्म में भी लोभ क्यों करना? वास्तव में यह भी एक बेड़ी है। बेड़ियें तो तोड़ने की हैं। बेडियें टूटने से मोक्ष मिलता है, फिर शुभ का लोभ क्यों?

उ०—शुभ कर्म हो तो सारा मनुष्य भव, आरोग्य, आर्यदेश, आर्यकुल व देव-गुरु-धर्म की सामग्री मिलती है, एवं ये मिलने से धर्म साधना हो सकती है। कुत्ता बहुत ही काम बिना फुरसत में है पर ज्ञानोपार्जन, धर्मश्रवण, जिनभक्ति, व्रत-नियम आदि क्यों नहीं कर सकता? कहो, उसे मनुष्य भव का पुण्य उदय में नहीं है। अत शुभ कर्म यही धर्म साधना के लिये जरुरी सामग्री शामिल कर देने वाला होने से इसकी भी जरूरत है। यहा आयुष्य का शुभ कर्म अगर समाप्त हो जाता है तो धर्म-साधना रूक जाती है यह स्पष्ट नजर आता है। इसलिए शुभ कर्म की तो भारी आवश्यकता है।

प्र०—ऐसे तो यह भी दिखता है कि आरोग्य, धनिकता, यश आदि पुण्य उदय मे होकर ही जीव अधिक पाप भी करते हैं।

उ०—इसका कारण यह है कि इसका पुण्य कलंकित है, पापानुबंधी पुण्य है। पाप व पुण्य दो दो जाति के हैं।

(१) पुण्यानुबंधी पुण्य —याने उदय में पुण्य होता है साथ साथ धर्म साधना हो कर नया पुण्य बंधाता है।

(२)पापानुबंधी पुण्य —याने पुण्य उदय में होता हो अगर प्राप्त करना हो पर विषय-कषाय, अर्थ काम व हिंसा-झूठ आदि पाप सेवन करता है अत नया पापकर्म बांधता है।

(३) पुण्यानुबंधी पाप —पाप के उदय में भी अर्थात् दरिद्रता-रोगिष्ठता आदि अवस्था में धर्म-साधना करता है तो पुण्य उपार्जन करता है, इसलिए यह पाप भी पुण्यानुबंधी है।

(४) पापानुबंधी पाप :—इससे मनुष्य हिंसादि पाप करता है तो पापकर्म बंधता है, इससे यह पापानुबंधी पाप कहलाता है।

ऐसी स्थिति होने से इतना सावधान रहना जरूरी है कि शुभ कर्म कदाचित बाने पापानुबंधी उपार्जित न हो जाए; इसलिये यह सावधानी रखनी कि सारा धर्म केवल आत्म-कल्याण, कर्मक्षय भवनिस्तार, व आत्मशुद्धि के लिये ही किया जाए।

ध्रुवबंधी

ज्ञानावरणादि कितने ही कर्म महायोगीपन तक पहुँच गये पर भी चाहे शुभ भाव में रहें हो तो भी बंधते हैं अर्थात् अपने योग्य गुणस्थानक तक जितने एक कर्म का अवश्य सतत बन्ध होता रहता है ऐसे कर्म को ध्रुवबंधी कहते हैं पर शुभ भाव का प्रभाव यह है कि इन पापकर्मों के स्थिति-रस बहुत मन्द बनते हैं। इससे उल्टा अगर अशुभ भाव वर्तता हो तब ध्रुवबंधी शुभ कर्म का बन्ध तो होगा ही पर इसका रस बन्ध बहुत ही मन्द होगा।

ध्रुवबंधी कर्म ४७ हैं —५ ज्ञानावरण + ९ दर्शनावरण + ५ अंतराय + १ मिथ्यात्व + १६ कषाय + २ भय-जुगुप्सा + ४ वर्णादि + २ तैजस-कार्मण + ३ अगुरुलघु-निर्माण-उपघात।

* १८—मोक्षमार्ग *

अपने देख चुके हैं कि आत्मा मिथ्यात्व आदि कारणों की वजह से कर्म बाधता है व ससार में भमता रहता है पर जो इससे विरुद्ध मार्ग पर चलता है तो ससार से छूट कर मोक्ष में पहुच सकता है। यह विरुद्ध मार्ग याने सम्यग् दर्शनादि मार्ग। जैसे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये ससार के मार्ग हैं वैसे ही 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग।' यहा चारित्र मे तप का समावेश है सो कहो कि सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र व सम्यक्तप यह मोक्ष का मार्ग है।

मोक्षमार्ग कब प्राप्त होता है ?:—

आत्मा का अज्ञान, विषय-कषाय का आवेश (अन्ध आसक्ति) इत्यादि कारणवश जीव अनादिकाल से ससार में पहले तो सूक्ष्म निगोद यानी अनतकाय एकेन्द्रिय वनस्पति में जन्म-मरण करता रहता है। तब अन्य कोई स्थूल वनस्पति या पृथ्वी-कायादि या द्विइ-द्रियादि व्यवहार में न आ सकने के कारण वह अव्यवहार राशि का जीव कहलाता है। यह तो जब कोई अन्य जीव ससार मे से छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है, तब जिसकी भवितव्यता बलवान होती है वह जीव अव्यवहार राशि में से व्यवहार मे आता है। और स्थूल वनस्पति-काय, पृथ्वीकाय आदि में जन्म प्राप्त करता है तब यह व्यवहार राशि में आया गिना जाता है। यहा से जीव सीधा ऊपर ही चढता जाये ऐसा नियम नहीं है। पृथ्वीकायादि या द्विइद्रियादि वगैरह में से फिर ठेठ नीचे सूक्ष्म वनस्पति तक भी इसे गिरना पडे ऐसा भी हो सकता है। यहा शायद काल-के-काल व्यतीत हो जायें, फिर ऊपर चढता है व पुन गिरता है। इस तरह करते २ पचेंद्रिय शरीर में आ जाता है। परतु यहा तक तो धर्म की तरफ कोई दृष्टि ही नहीं गई। तिर्यं च पशु-पक्षी के अवतार भी व्यर्थ जाते हैं। यों तो अगर मनुष्य

जब तक भी आजाए तो भी धर्म-प्राप्ति सुलभ नहीं। क्योंकि, जहाँ तक इस संसार में भव मात्र एक पुद्गलपरावर्त काल से अधिक काल घूमना बाकी है वहाँ तक धर्म-प्राप्ति नहीं होती है। ऐसे तो धर्म का श्रेष्ठ फल देवत्व आदि देख कर इसके लोभ से चारित्र, साधु-दीक्षा भी स्वीकार करता है और पालन करता है, पर ये दुनियां के सुख के लिए इससे इसके दिल में वास्तविक धर्म का स्पर्श नहीं होता है। यह तो जब अंतिम (चरम) पुद्गलपरावर्त काल (चरमावर्त) में आता है, तभी आत्मा व धर्म की ओर दृष्टिपात होता है, संसार पर उद्वेग का जन्म होता है व मोक्ष की अभिलाषा (रुचि) होती है।

भव्य–अभव्यः—मोक्ष-रुचि भी भव्य जीव को ही जागृत होती है, अभव्य को नहीं। भव्य यानें मोक्ष पाने की योग्यता वाला व अभव्य यानें मोक्ष की योग्यता बिना। कभी भी अभव्य को मोक्ष की श्रद्धा भी नहीं होती। उससे संसार का पक्षपात नहीं छूटेगा। यानें इसका यह अर्थ हुआ कि जिसे इतनी भी शंका कि क्या मुझे मोक्ष नहीं मिलने का? मैं भव्य हूँगा या अभव्य? ऐसी शंका भी होवे वह जीव भव्य होता है। वह भी चरमावर्त में आया हुआ होता है, क्योंकि अंदर ही अंदर मोक्ष तरफ सहज रुचि हुई हो तभी ऐसी शंका पड़ती है, एवं संसार भ्रमण का भय खड़ा होता है।

आखिरी पुद्गलपरावर्त काल के पहले यानें कि अ-चरमावर्त काल में मोक्ष की रुचि न होने का कारण रागादि- आठ कर्मों का आवेश इत्यादि का पोषक "सहज मल" है। इसका ठीक २ ह्रास होता है तभी मोक्ष व धर्म के ऊपर दृष्टि जाती है। यह वस्तु जीव चरमावर्त में आता है तभी बन सकती है। जैसे बिमार का रोग जब तक पकता नहीं तब तक उसे अन्न की रुचि नहीं होती। उसी तरह इसमें समझना है।

चरमावर्त में भी प्रवेश होते ही सब को मोक्ष व धर्म की रुचि होती है, ऐसा नहीं होता। जल्दी या देर से भी रुचि होती है। यह होने के तीन लक्षण है, १ दुखी पर दया २ गुणवान से द्वेष नहीं, व ३ औचित्य। ये तीनो किसी दुन्यवी लाभ के लोभ से नहीं पर निस्वार्थ भाव से होते हैं, हृदय की ऐसी कोमलता के कारण प्रकट होते हैं। तो मान सकते हैं कि सहजमल का ह्रास ठीक ठीक हुआ है। सहजमल का प्रचुर ह्रास हुआ हो तभी धर्म की तरफ दृष्टि जाती है, आत्मतत्त्व व मोक्ष लक्ष्य में आता है, और विषय-कषाय का अन्ध आवेश मन्द पडता है।

धर्म भी, सब को पहल-पहले सर्वज्ञकथित शुद्ध धर्म याने सम्यक् दर्शन-ज्ञान चारित्र मिल जाये, ऐसा नहीं बनता, फिर भी यह मोक्ष-मार्ग तरफ ले जाने वाले गुण प्राप्त होते हैं। ऐसे गुणों से सपन्न जीवन को मार्गानुसारी जीवन कहते हैं।

● १९ मार्गानुसारी जीवन ●

मोक्ष का मार्ग एक ही है,–सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक्-चारित्र, और सम्यक् तप। इसके प्रति अनुसरण करावे इसके लिए योग्य बनावे ऐसा जीवन मार्गानुसारी जीवन है।

शास्त्र में इसके ३५ गुण कहे हैं। इन्हें सरलता से याद रखने के लिये इस प्रकार चार भाग में विभक्त करेंगे,–(१) जीवन में ११ कर्तव्य, (२) छोडने योग्य ८ दोष (३) ग्रहण करने योग्य ८ गुण एव (४) साधनाएं ८।

११ कर्तव्य –●(१) गृहस्थ जीवन है, अब आजीविका कमाये बिना चलता नहीं, तब उसे न्याय से उपार्जन करना चाहिये। यह 'न्यायसपन्न-विभव' नामक पहला कर्तव्य है। ●(२) प्राप्त धन के अनुसार ही खर्च रखना चाहिये, किन्तु अधिक या धर्म को भूल कर

व्यय न करें। यह 'उचित खर्च' (आयोचितव्यय) नामक दूसरा कर्तव्य है। (३) पैसे न ज्यादा (भड़कीला) वेष नहीं पहने पर योग्य वस्त्र और उचित वस्तुयें मर्यादा करें। यह 'उचित वेश-अनुसार वेश' नामक तीसरा कर्तव्य है। (४) रहने के लिये ऐसा घर न हो कि चोर डाकुओं का भय बना रहे याने बहुद्वार युक्त बहुत गहरा या बहुत ही प्रकट रूप भी नहीं एवं अच्छे पड़ोस वाला मकान चाहिये। यह चौथा कर्तव्य 'उचित मकान' है। (५) घर बसाने के लिये विवाह करे तो भिन्न गोत्र वाला समान कुल व आचार वाले के साथ किया जावे यह पांचवा कर्तव्य 'उचित विवाह' है। (६) घर में भोजन करे वहां पहला खाया हुआ न पचे तब तक भोजन न करे। यह 'अजीर्णे भोजन-त्याग' का छठा कर्तव्य है। (७) भूख हो तो भी भोजन करीब निश्चित समय ही करना और प्रकृति के लिए सात्विक हो वैसी ही चीज का करना। यह 'काले सात्म्यतः भोजन' नाम का ७ वा कर्तव्य। यहां नियमितता इसलिये कि शरीर में पाचक रस नियम से ही उत्पन्न होते हैं। जल्दी या देर करने में फर्क पड़ता है। प्रकृति वायु की हो और वाल-चवला आदि का उपयोग करे तो वायु बढ़ने से तबियत बिगड़ जाती है। (८) भोजन भी अपना घर में व माता पिता का पहले होना चाहिए। माता-पिता को भोजन वस्त्र शय्या आदि शक्ति अनुसार अपने से भी अच्छा दे कर भक्ति करे यह आठवा कर्तव्य 'माता-पिता की पूजा'। (९) साथ अपनी जिम्मेवारी वाले पोष्यवर्ग का पालन (१०) इसके उपरांत अतिथि जिनके वर्ग किसी तिथि पर नहीं किन्तु सदा ही है वैसे मुनि व साधु अर्थात् सज्जन तथा दीन-हीन दुःखी मनुष्य घर आवें तो यथायोग्य सेवा करना यह 'अतिथि-साधु दीनप्रतिपत्तिः'—तथा (११) जो ज्ञान में बड़े हो या अच्छे चारित्रवाले हो उनकी सेवा यह 'ज्ञान-वृद्धि-चारित्र पात्र की सेवा' नामक ग्यारहवा कर्तव्य।

८ दोष का त्याग — (१) निंदा त्याग -दूसरों की निंदा करनी या सुननी नहीं। निंदा यह महान दोष है। इससे हृदय में कालापन, प्रेमभग,नीचगोत्र पाप का उपार्जन आदि नुकसान पैदा होते है। (२) निद्रा प्रवृति का त्याग —जिसमें मुह से निंदा छोडने की तरह काया-इन्द्रियों से निंद्य प्रवृत्ति का त्याग करना होता है, अन्यथा निंदा होती है और बहुत पाप लगता है। (३) इन्द्रिय निग्रह करना, याने इन्द्रियों की गुलामी नहीं रखनी, उन्हें अयोग्य विषय में जाने न देनी (४) आतर शत्रु पर विजयः—हृदय में काम, क्रोध, लोभ, मान, हठामहादि मद, हर्ष का उन्माद ये छः अतर शत्रुओं की विजय प्राप्त करना अन्यथा गुलामी में धन, पुण्य, धर्म आदि खोने पडते हैं। यों (५) अभिनिवेश का त्याग करना अर्थात् मन में कोई भी दुराग्रह नहीं रखना, अन्यथा अपकीर्ति आदि होता है। (६) त्रिवर्ग-परस्पर बाधा का त्याग मात्र खोटे आवेश से धर्म, अर्थ, काम को परस्पर बाधा पहुँचे ऐसा नहीं करना चाहिये। याने एक पर इस तरह न टूट पडना कि दूसरा बाधित हो,और अपयश,धर्म लघुता आदि अनर्थ उत्पन्न हो। (७) उपद्रवयुक्त स्थान का त्याग -बलवा, प्लेग, आदि उपद्रव वाले स्थान को छोड देना चाहिये। (८) इसी तरह अयोग्य देश काल चर्या त्याग,अर्थात् उसमें फिरना नहीं। जैसे वेश्या या लुच्चों की गली में जाना आना नहीं, बहुत रात गये फिरना नहीं, अन्यथा कलंक आता है, लूट जाते हैं।

८. गुणों का आदरः—

(१) पापभय -हमेशा पाप का भय रखना-"मेरे से पाप न हो जाय"। पाप का प्रसग हो तो "इसमें आत्मिक दृष्टि से मेरा क्या होगा।"—ऐसा भय रहे। आत्मोत्थान का यह पहला पाया है। (२) लज्जा —अकार्य करते अगर लज्जा आवे तो बने वहा तक अकार्य करे ही नहीं। इसी तरह बड़ों की लज्जा-दाक्षिण्य हो तो खोटे मार्ग जाता रुके और इच्छा न हो तो अच्छे कार्य करने में प्रेरित हो।

(३) सौम्यता—हृदय, वाणी व आकृति सौम्य रखनी रूक्ष नहीं, पर मुलायम शीतल रखनी जो सबका सद्भाव सहानुभूति मिले। (४) लोकप्रियता—उपरोक्त गुणों व सद् आचारों से लोक का प्रेम संपादन करना। (५) दीर्घ दृष्टि—हर एक कार्य प्रारम्भ के पहले उसके परिणाम पर नजर रखनी जिससे बाद में दुःखी होना न पड़े। (६) बलाबल की विचारणा—कार्य परिणाम में लाभदायक हो फिर भी कार्य व परिणाम में अपनी शक्ति कितनी है यह विचार कर लेना चाहिए। बिना बल आगे बढ़कर पीछे लौटना पड़ता है। (७) विशेषज्ञता—विशेष = विवेक। यथा सार-असार कार्य-अकार्य वाच्य-अवाच्य, लाभ-हानि आदि का विवेक करना। इसी तरह विशेष = नव नये आत्महितकारी ज्ञान प्राप्त करना। (८) गुण पक्षपात—स्वजीवन में क्या, व दूसरों के जीवन में क्या? सदा गुण की तरफ रुचि रखनी दोष की ओर नहीं। दोष के बदले गुण के पक्षपाती होना।

८. साधना—

(१) कृतज्ञता—किसीके थोड़े भी उपकार को भूलना नहीं बरन् मन रख कर यथाशक्ति बदला चुकाने को तत्पर रहना। (२) परोपकार—सामने वाले ने उपकार नहीं भी किया या न करने वाला हो फिर भी अपनी ओर से शक्य उपकार करते रहना चाहिये। (३) दया—हृदय को अति कोमल दयालु रख कर हो सके उतना तन-मन धन से दया करते रहना निर्दयता कभी नहीं करनी। (४) सत्संग—संसार में संग मात्र ही रोग है, दुःख-कारक है, पर सत्संग यह रोग मिटाने की औषधि है। अतः सत्पुरुषों का संग बहुत ही रखना चाहिये। (५) धर्म श्रवण—सतत रख कर धर्म का श्रवण करते रहना, जिससे प्रकाश और प्रेरणा मिलते रहने से जीवन सुधारने का अवसर मिलता है।

●(६) बुद्धि के आठ गुण -धर्म श्रवण करने मे, उसी तरह व्यवहार में किसी की प्रवृत्ति पर अभिप्राय बाधने में उतावला न होने के लिये बुद्धि की इन आठ सीढियों पर चढना आवश्यक है,—

शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञान तत्त्वज्ञानं च धीगुणा ॥

(१) सुनने की पहली इच्छा जाग्रत करना यह शुश्रूषा। बिना ऐसी इच्छा, अपने को कोई धर्म सुना दे तो हम रस पूर्वक श्रवण कैसे करेंगे ? (२) फिर इधर उधर मन को न दौडाते हुए या चित्त शून्य या अन्यत्र लगा हुए न बनाते बराबर सुनना वह श्रवण है। (३) सुनते हुए समझते जाना वह ग्रहण। (४) फिर समझा हुआ मन में बराबर याद रखना वह धारण। (५) एव सुने हुए तत्त्व पर अनुकूल तर्क दृष्टात विचारना यह ऊहा। (६) प्रति पक्ष में "यह तत्त्व नहीं" वह देखना, अगर प्रस्तुत में बाधक अश नहीं है यह निश्चित करना अपोह है। (७) ऊहापोह से पदार्थ निश्चित करना वह अर्थ विज्ञान कहलाता है। (८) पदार्थ निर्णय पर सिद्धान्त-निर्णय तात्पर्य-निर्णय या तत्त्व-निर्णय करना वह तत्त्वज्ञान है। ❀ (७) अब सातवीं साधना प्रसिद्ध देशाचार का पालन है, —जिस देश में रहते हों वहा के प्रसिद्ध उचित आचारों का पालन करना। ❀ (८) शिष्टाचार-प्रशसा — शिष्ट पुरुषों का आचार यह है—लोक निंदा का भय, दीन-दु खियों का उद्धार, कृतज्ञता, अन्य की प्रार्थना को भग न करने का दाक्षिण्य, निंदात्याग, गुण-प्रशंसा, आपत्ति में धैर्य, संपत्ति में नम्रता, अवसरोचित, हित-मित वचन, वचनबद्धता, विघ्न जय, आयोचित व्यय, सत्कार्य का आग्रह, अकार्य का त्याग, बहुनिद्रा-विषय-कषाय-विकथादि प्रमादों का त्याग, औचित्य आदि हैं। इनकी प्रशंसा करते रहना।

मार्गानुसारी के ३५ गुणों से जीवन ओतप्रोत बने, यह बहुत आवश्यक है, क्योंकि आगे पराकाष्ठा, 'मैं ससारत्यागी साधुपन तक

पहुँचा हुआ भी मार्ग या इन ३५ में से किसी एक गुण का भी पालन कर रहा हो तो वह क्रमशः उच्च स्थान से आगे प्रगति करने तक पहुँच जाता है। मार्गानुसारी गुणों का इतना महत्त्व होते हुए भी इसे प्राप्त करने मात्र से सम्यग्दर्शन होता ही है ऐसा कोई नियम नहीं है। सम्यग्दर्शन पाने के लिए पहले अपुनर्बंधक अवस्था प्राप्त करनी जरूरी है।

अपुनर्बंधक अवस्था—

यह अवस्था पाने के लिये मूल में तीन गुण जरूरी हैं। (१) तीव्र भाव से पाप का आचरण नहीं करना यदि पाप न छूटता हो फिर भी इसमें हृदय का भीरु, पाप के प्रति उद्वेग भाव कोमल रखना। (२) घोर संसार पर बहुमान न करना। 'संसार चार गति में भ्रमण रूप है, जन्ममरण रूप है, विषय कषायमय है, और कर्म-बन्धन रूप है। यह संसार भयंकर है।' ऐसा समझ कर संसार का बहुमान इस पर आस्था या इसमें सारपन की बुद्धि न रखना। (३) उचित स्थिति का पालन करना अपनी स्थिति का अनुचित वर्तन नहीं करना।

●

२० सम्यग्दर्शन

मार्गानुसारी व अपुनर्बंधक अवस्था जैनेतर में भी हो सकती है। जैसे कोई अवधूत संन्यासी बने हुए महावैरागी राजा भर्तृ हरि इस तरह की ऊँची स्थिति में पहुँचे थे पर उन्हें वीतराग सर्वज्ञ के कहे हुए तत्त्व प्राप्त नहीं हुए, इससे सम्यग्दर्शन की भूमिका पर नहीं आये थे।

सम्यग्दर्शन पाने निम्नोक्त तत्त्व पर रुचि वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा कथित तत्त्वभूत पदार्थ एवं मोक्षमार्ग पर हार्दिक अचल श्रद्धा यह

सम्यग्दर्शन है। तत्त्व याने वस्तु स्वरूप। ये तत्त्व अनेकातमय है, एकातरूप नहीं। कहने वाला वीतराग सर्वज्ञ है। उनको असत्य बोलने का कोई कारण नहीं। उसी तरह सर्वज्ञता से तीनों ही काल का सब पदार्थ प्रत्यक्ष देखते हुए कहा है। अत वस्तुमात्र का जैसा स्वरूप है, वैसा ही ये कहते हैं। इससे इन तत्त्वोंपर ही सपूर्ण श्रद्धा करनी चाहिये। तत्त्व जीव अजीव आदि नौ पहले बताये गए हैं।

यह सम्यगदर्शन गुण निश्चय से आतमा के मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कपाय के क्षयोपशम (नाश) से होने वाला एक शुद्ध आत्म परिणाम (अवस्था) स्वरूप है। व्यवहार से श्रद्धा-लिंग-लक्षण स्वरूप है। सम्यग्दर्शन को सम्यक्त्व या समकित भी कहते हैं।

सम्यक्त्व के पाच लक्षण इस प्रकार हैं,—शम, संवेग, निर्वेद अनुकंपा व आस्तिक्य—

● (१) शम प्रशम —अनतानुबधी कपाय के उदयसे हो रही तीव्र आसक्ति द्वेप आदि की शाति यह शम है। ● (२) सवेग याने देवताई सुख भी दु ख रूप समझ एकमात्र मोक्ष के लिये की हुई तीव्र अभिलाषा। ● (३) निर्वेद याने नरकवास की तरह संसार एक कैद रूप लगे, उसके प्रति उद्वेग रहे। ● (४) अनुकपा याने शक्ति अनुसार दु:खी के दु:ख टालने की दया, और वाकी के प्रति भी दिल में आर्द्रता। यह दु:खी दो जाति के होते हैं,—(१) द्रव्यदु:खी भूख, तरस, रोग, मार आदिवाले हैं। (२) भाव दु खी याने भूल, अधर्म पाप, आदि करने वाले। दोनों तरह के दु खी के प्रति दया यह अनुकंपा। ● (५) आस्तिक्य याने तत्त्व के अस्तित्व की ऐसी अटल श्रद्धा कि 'तमेव सच्च णिस्सक ज जिणेहिं पवेइय।' जिनेश्वरों ने जो कहा है वही सच्चा व शका बिना का है।

६७ व्यवहार:—

सम्यग्दर्शन मोक्ष का प्रथम अनिवार्य उपाय है। इसके अधिक से अधिक निर्मल होने पर बाद के उपाय प्रबल होते जाते हैं। इस निर्म-

लाभ के लिये सम्यक्त्व के सड़सठ व्यवहार जैसे ६७ व्यवहार आचरणीय हैं। इन्हें सरलता पूर्वक याद रखने के लिये यह पद याद रखें-

४ ३ ३ ५ ५ ५ ६ ६ ६ ६ ८ १
सद — शुद्धि — द भूल — यआयभाठा प्रभा—वि।

इसमें प्रत्येक अक्षर एक १ विषय का सूचक है। वह इस प्रकार है सद्दहणा, शुद्धि-लिंग दूषण-भूषण-लक्षण यतना आगार भावना-स्थान प्रभावना और विनय। इनकी समझ इस प्रकार –

●(४) सद्दहणा –(१) परमार्थ-संस्तव = जीव-अजीव आदि तत्त्वों (परम अर्थ) का परिचय, हार्दिक अभ्यास (२) परमार्थ के ज्ञाता साधुजनों की सेवा; (३) व्यापन्न-वर्जन = सम्यग्दर्शन-विहीन कुगुरु का त्याग (४) मिथ्या-दृष्टियों के संग का त्याग।

○ ३) शुद्धि—जगत में जिनेश्वर देव जिनमत और जिनमतावलम्बी संघ ये तीन ही सार, शेष संपूर्ण संसार को असार माने। ◑ (३) लिंग —(१) सुखी युवक के दिव्य संगीत-श्रवण के तीव्र राग जैसा धर्मशास्त्र-श्रवण का तीव्र राग, (२) अटवी में थके हुए भूखे ब्राह्मण की घेवर की भूख की तरह चारित्र धर्म की तीव्र अभिलाषा (३) विद्या साधक की भांति अरिहंत और साधु की विविध सेवा का नियम।

◐५ दूषणों का त्याग—(१) जिनवचन में शंका, (२) अन्य धर्म की आकांक्षा (आकर्षण), (३) धर्म क्रिया के फल में संदेह (४) मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और (५) कुलिंगी (मिथ्यादृष्टि गुरु) का परिचय-ये पांचों त्याज्य।

● ५ भूषणों का आदर-(१) जैन शासन में कुशलता (उत्सर्ग अपवाद वचन आदि विधि वचन, भय वचन आदि का विवेक,) (२) शासन-प्रभावना (३) स्थावर तीर्थ का यात्रादि, और जंगम तीर्थ श्रमण संघ की विविध सेवा, (४) स्व-पर को जैन धर्म में स्थिर करना और (५) प्रवचन-संघ की भक्ति, विनय-वैयावच्च।

●५ लक्षण—शम,सवेग, निर्वेद, अनुकपा-आस्तिक्यादि (जो पहले कह चुके हैं उनको) धारण करना।

●६ आगार-(१-५) राजा,जनसमूह बलवान चोर आदि,कुलदेवी आदि, मातापितादि गुरुवर्ग, इन पाच का वैसा बलात्कार हो या (६) जगल आदि में आजीविका का प्रश्न खड़ा हो, वहा मिथ्या धर्मी को हृदय के भाव बिना वंदन आदि करने का अपवाद।

●६ जयणा—मिथ्यादृष्टि सन्यासी आदि कुगुरु, और सरागी हरिहरादि कुदेव तथा मिथ्यात्वियों से अपने देव रूप में गृहीत की हुई जिनप्रतिमा को भी वदन-नमन आलाप, सलाप अथवा दान-प्रदान, नहीं करना-इससे समकित की यतना याने रक्षा होती है। (वंदन = हाथ जोड़ना, नमन = स्तुति आदि से प्रणाम, आलाप = बिना बुलाए सन्मान पूर्वक बुलाना, सलाप = पुन २ वार्तालाप, दान = पूज्य मानकर अन्नादि देना, प्रदान = चंदन, पुष्पादि पूजा सामग्री रखना, यात्रा- स्नान- विनय, वैयावच्चादि करना)

●६ भावना—सम्यक्त्व को टिकाने के लिये इसे 'मूलं दार-पइट्ठाण, आहारो-भायण-निही' इन छ भावनाओं द्वारा पोषण करना चाहिये। सम्यक्त्व बारह व्रत रूपी श्रावक धर्म का मूल है, द्वार है, आधारस्तम्भ है, भाजन (पात्र) है, भडार (तिजोरी) है। मूल यदि सुरक्षित न हो तो वृक्ष सूख जाता है, दरवाजे के बिना नगर में प्रवश नहीं हो सकता, अच्छी नींव के बिना भवन टिक नहीं सकता और न खडा ही किया सकता है, पृथ्वी रूपी आधार पर ही जगत खड़ा हुआ है सिंहनी का दूध आदि स्वर्णादि पात्र में ही रह सकता है, मणि, मानिक, मोती, भडार- तिजोरी में ही सुरक्षित रहते हैं, इसी प्रकार व्रत धर्म के लिये सम्यक्त्व प्रथम आवश्यक है।

●६ स्थान—सम्यक्त्व के रहने के लिये छ स्थान हैं, इन्हें

होता है, बहुमान पूर्वक विनय भक्ति, वस्तु अर्पण से पूजा, गुण-प्रशंसा, निंदा का त्याग, और आशातना का त्याग।

सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) प्राप्त करने के लिये व प्राप्त हो तो दृढ और निर्मल करने के लिये ये कर्तव्य करणीय हैं, प्रतिदिन जिन-दर्शन, जिनभक्ति-पूजा, पूजा में अपने द्रव्य का यथा शक्ति समर्पण, नमस्कार-महामन्त्र का स्मरण, अरिहंत—सिद्ध—साधु—जिनधर्म का शरण, अपने दुष्कृत्यों की आत्मनिंदा, अरिहंतादि के सुकृत्यों का अनुमोदन, जिनवाणी का नित्य श्रवण, तीर्थयात्रा, सातव्यसन (शिकार, जुआ, मांसाहार, शराब, चोरी, परस्त्री, वेश्या) का सर्वथा त्याग, रात्रि भोजन—त्याग आदि व्रत नियम, दयादानादिक की प्रवृत्ति सामायिकादि क्रिया, तीर्थंकरादि महापुरुषों के चरित्रग्रन्थ एवं उपदेशमाला—श्राद्धविधि—धर्मसंग्रह—भवभावना-अध्यात्मकल्पद्रुम—उपमितिभव-प्रपंचकथा इत्यादि शास्त्रों का वाचन वगैरह।

:: २१—देशविरति—बारह व्रत ::

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद अब सम्यग्दृष्टि आत्मा को संसार और आरंभ परिग्रह-विषय आदि जहर जैसे लगते हैं। इससे उसे रोज ध्यान रहता है कि 'कब वह इस पापभरे घरवास को छोड निष्पाप साधु-दीक्षा, चारित्र, प्रव्रज्या ले और अणगार बन दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप का ही एक मात्र जीवन जीये।' सम्यग्दृष्टि आत्मा के द्वारा संसार एकदम न छूटे यह बने, पर उसका दिल ऐसा ही बना रहना चाहिये। अब जब सर्व पापों के त्याग की सच्ची लय है, तो इसके लिये शक्य पापत्याग स्वरूप देशविरति (अंशविरति) धर्म का पालन आवश्यक है। इसमें सम्यक्त्वव्रत पूर्वक स्थूल रूप से हिंसादि पापों के त्याग की तथा सामायिकादि धर्मसाधना की प्रतिज्ञा की जाती है।

देशविरति धर्म में इन बारह व्रत का स्वीकार किया जाता है—
५ अणुव्रत + ३ गुणव्रत + ४ शिक्षाव्रत।

५ अणुव्रत —स्थूल रूप से हिंसा, असत्य आदि पापों का त्याग-अहिंसा सत्य-नीति-सदाचार-अल्प परिग्रह का पालन।

३ गुणव्रत—दिक्-परिमाण, भोगोपभोग-परिमाण अनर्थदंड विरमण।

४ शिक्षाव्रत—सामायिक देशावकाशिक, पौषध और अतिथि संविभाग।

(१) स्थूल अहिंसा—(स्थूल प्राणातिपात-विरमण) "चलते फिरते (त्रस) निरपराधी जीव को देख समझ कर निरपेक्षपन से नहीं मारना" ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है इसके पालन में जहाँ तक जीव पर प्रहार होय गाढ़ बंधन, कस आदि व अति भारारोपण, भात-पानी में देर का विच्छेद करना नहीं। प्रतिज्ञा में कदाचित् रोग पर गुमान आदि देना पड़े और इस में जीव मरे उसकी परवा उसका भी पश्चात्ताप अपवाद है। यह दुःखी मन से ही करना पर्व रखना चाहिए।

(२) स्थूल सत्य (स्थूल मृषावाद-विरमण) "कन्या आदि मनुष्य पशु, जमीन, माल आदि के संबंध में झूठ नहीं बोलना; तथा अपने पास दूसरे के विश्वास (थापण) का इनकार नहीं करना, इसको हड़प नहीं करना"—ऐसी प्रतिज्ञा इसके विशुद्ध पालन के लिए १ कुछ भी बिना विचार किये सहसा न बोलना २ पत्नी व मित्र से विश्वास में की हुई बात या किसी की गुप्त बात दूसरे को न कहना ४ झूठ बोलने की किसी को राय न देनी, ५ झूठे हिसाब-दस्तावेज-लेख आदि लिखना नहीं यह सावधानी रखनी।

(३) स्थूल चोरी-त्याग—(स्थूल अदत्तादान-विरमण) "राज दंड दे व लोक निंदा करे ऐसी चोरी नहीं करूं" यह प्रतिज्ञा। इसमें

चोरी, लूट मार, सेंध लगाना, जेब काटना, गठडी उठानी, चुंगी चोरी टिकट चोरी, आदि त्याग करना। इस व्रत के पालन के लिये बने वहां तक पांच अतिचार टालने–चोर को सहारा नहीं देना, चोरी का माल संग्रह न करना, माल झूठा या मिलाकर न बेचना, राज्यविरोधी काम नहीं करना, खोटे माप आदि नहीं रखने। यह सावधानी रखनी।

(४) सदाचार—(स्थूल मैथुन-विरमण) परस्त्री, वेश्या, विधवा व कुमारिका का त्याग, व अपनी स्त्री से मर्यादित संबंध की प्रतिज्ञा। इसके पालन के लिये बने वहां तक अनंग (काम संबंधी अंग सिवाय अंग की) क्रीडा, तीव्र विषयासक्ति और अन्य के विवाह करण न करने की सावधानी रखनी।

(५) परिग्रह-परिमाण—(स्थूल परिग्रह–विरमण) १ धन, २ धान्य, ३ जमीन, ४ मकान—दुकान–बाग ५ सोना–चांदी आदि धातु, ६ हीरा-मोती आदि जेवर, ७ बरतन-सामान-फरनीचर, ८ पशु, ९ दास—दासी, ऐसे नौ तरह के परिग्रह का परिमाण निश्चित करना, कि इतने से अधिक रखूं नहीं, या सबकी मूल या बाजार–भाव की कीमत से सब मिलकर इतने रूपये से अधिक कीमत का परिग्रह रखूं नहीं। अधिक आ जाये तो तुरत धर्म-मार्ग पर खर्च करना। व्रत-पालन के लिये परिग्रह के परिमाण का विस्मरण न होने देना। परिमाण रखने का रहस्य ख्याल में रहे कि इससे अधिक परिग्रह आ जाए ऐसी कोशिश करने योग्य नहीं। अधिक परिग्रह को स्त्री-पुत्रादि के नाम पर रख कर उस पर अपना अधिकार नहीं रखना, प्रतिज्ञा की कल्पना का परिवर्तन नहीं करना, इत्यादि सावधानी रखनी।

(६) दिशा-परिमाण—"ऊपर नीचे ०॥—१ मील, चारों दिशा में इतने मील, अथवा भारत के बाहर जाऊं नहीं" ऐसी प्रतिज्ञा। इस परिमाण का विस्मरण न हो, व एक दिशा के परिमाण का संक्षेप

कर दूसरी दिशा में आवश्यक परिमाणवृद्धि न की जाए—इत्यादि सावधानी रखना आवश्यक है।

७ वां भोगोपभोग-परिमाण व्रत

भोग अर्थात् जो एक ही बार उपभोग में आवें जैसे-वस्तुओं-अन्न-पान गन्ध-विलेपन पुष्प आदि का उपभोग। उपभोग अर्थात् जो बार बार उपभोग में आवें उन चीजों—वस्त्र, मकान पलंग कुर्सी, बिस्तर, वाहन पशु आदि का उपभोग। सातवें व्रत में वस्तुओं का अपनी शक्ति के अनुसार न्यूनतम प्रमाण निश्चित करके शेष के त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है।

अन्न-पान में श्रावक का जहां तक हो सके, सचित्त (सजीव) का त्याग करना, उदाहरणार्थ-कच्चा पानी, कच्चा साग, ताजे तोड़े हुए फूल, ताजा निकाला हुआ रस कच्चा नमक, आदि काम में नहीं लेना क्योंकि (१) इन में जीव का नाश सीधा अपने मुख से होता है, तथा (२) अचित्त की अपेक्षा से अधिक विकारी हैं। (उबला हुआ पानी पके हुए साग कटे हुए और बीज अलग किए जाने के दो घड़ी बाद के पके फलों के रस पके हुए फल में बीज न होने व बिना कटे भी वह अचित्त है) अग्नि-भट्ठी में पकाया हुआ नमक आदि अचित्त है। आखिर कम कुछ निश्चित सचित्त की छूट रख कर शेष का त्याग। तथा पर्वतिथि-चातुर्मास आदि में सर्वथा सचित्त त्याग करना। इस व्रत में २२ अभक्ष्य-३२ अनंतकाय व १५ कर्मादान त्याग करने का है।

२२ अभक्ष्य—

अभक्ष्यभक्षण जीवन निर्वाह में अनुपयोगी है, इसमें बहुत जीवनाश है, ये विकारी हैं आदि कारणों से श्रावक इनका त्यागी होता है।

२२ अभक्ष्य इस प्रकार —

● (१) रात्रि भोजन- ● (२-५) ४ महाविगई-मांस, मदिरा (शराब) मधु और मक्खन। इन चारों में तद्वर्ण के असंख्य जीव पैदा होते हैं ऐसा अन्य मतों ने भी कहा है। अंडे कोडलिवर-ओयल, लिवर के इन्जेक्शन आदि भी माँस में सम्मिलित हैं। मधुमक्खी मधु में अशुचि पुद्गल भी भरती है। वैसे ही मधु तैयार हो जाता है तथा उसमें असंख्य उड़ते हुए जीव चिपक कर मरते हैं। साथ ही मधु-प्राप्ति में भी कितनी ही मक्खियों का नाश होता है। मक्खन में सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं। ● (६-१०) ५ उदुम्बर पंचक (बड़,पीपल, पारसपीपल, गूलरप्लक्ष,कालु बर) के फल, इन में बहुत जीव होते हैं। ● (११-१५) बर्फ, ओले,अफीम आदि विष, सर्व मिट्टी, और बैंगन ये ५ भी अभक्ष्य हैं।

● एवं (१६) बहु बीज-उदाहरणार्थ- बैंगन, कोठीमडे, खसखस, अजीर, राजगरा, पटोला आदि जिनमें अन्तर पट के बिना बहु बीज साथ होते हैं। ● (१७) तुच्छफल-बेर, जामुन, गूंदे, महुडे, कोमल सींग आदि। ●(१८) अज्ञात फल ● (१९) संधान = बराबर धूप सहन किये बिना अथवा पक्की चासनी बिना आचार। ● (२०) चलितरस-जिनके रस, वर्ण, गंध, स्पर्श बिगड गये हों वे। उदाहरणार्थ रांधा हुआ अथवा उबाला हुआ बासी अन्न-रोटी-भात बासी नरम पूड़ी-भाखरी मात्रा आदि, दो रात बाद जमा हुआ दही, छाछ, अपक्व दही, सर्दी में एक माह, गर्मी में २० दिन, चतुर्मास में १५ दिन उपरांत की मिठाई, गर्मी व चतुर्मास में तिल, खजूर, छुआरे, चतुर्मास में सूखा मेवा, भाजी, पालक, कच्ची खांड, आर्द्रा के बाद आम, बिगड़ी हुई मिठाई, मुरब्बा, अचार। ● (२१) द्विदल (कठोल) संयुक्त कच्चा दही, दूध या छाछ। इनमें असंख्य त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। द्विदल अर्थात् तेल न निकले और दो फाड़ हों ऐसे कठोल इनकी दाल, आटा अथवा साग।

मारकर दांत, केश, पीच्छिका आदि जहां उत्पन्न हो वहां से उन्हें खरीद कर बेचने का धन्धा, (७) लाख, गंधक, शराब, कोयला, ईंधन आदि का व्यापार, (८) मधु, घी, तेल आदि रस का व्यापार, (९) मनुष्य-पशु आदि का व्यापार, (१०) सोमल, अच्छनाग, तेजाब आदि का व्यापार। (११) यंत्रपीलण-खांडनिया, घट्टी, चक्की, यंत्र आदि से अनाज, बीज, कपास वगैरह कूटना पीसना आदि का धंधा, (१२) निर्लांछनकर्म-जीव के गात्र काटने बींधने का धन्धा। (१३) दवदान-जंगल जलाने आदि का धंधा, (१४) तालाब आदि सुखाने का धंधा, (१५) असतीपोषण-दास, दासी, पशु-पक्षी आदि का पोषण करके उनके दुराचार-विक्रय आदि पर अवलम्बित आजीविका।

सातवें व्रत में धान्य-शाक भाजी-फल मेवा इत्यादि के आवश्यक नाम की नोंध करके जीवन भर के लिए इनके अतिरिक्त का उपयोग न करने की प्रतिज्ञा की जाती है। इस प्रकार आगे 'व्रत-नियम' प्रकरण में दिखाये गए १४ नियमों का प्रमाण जीवन भर के लिए निश्चित किया जाता है, उदाहरण-इस जीवन में रोज २० द्रव्य से अधिक का भक्षण मैं नहीं करूंगा। बाद प्रतिदिन इतने या कम का दैनिक नियम किया जाता है।

८ अनर्थदंडविरमण व्रतः—

जीवन निर्वाह में अनुपयुक्त प्रवृत्ति का त्याग रखना, अन्यथा अनर्थ याने निष्प्रयोजन कर्मदण्ड लगता है। अनर्थ रूप में चार वस्तु हैं,—१ दुर्ध्यान, २ अधिकरण (पाप के साधन) का प्रदान, ३ पापोपदेश, और ४ प्रमादाचरण। इनमें पहले तीन का तो ठीक जागृति रख कर, और चौथे का त्याग-प्रतिज्ञा पूर्वक, आचरण नहीं करना।

(१) दुर्ध्यान—अच्छी चीज प्राप्त हुई या होने वाली है इस पर अत्य हर्षोन्माद अनुकूलता संयोग-अवियोग-चिंता आदि किया एवं वह नष्ट हुई या होने वाली है या कोई बुरी चीज आ गई या आने वाली है इस पर प्रतिकूल संयोग का वियोग-असंयोगचिंता हुई, रोग में हाय ! उसके नाश की चिंता की तथा पौद्गलिक पदार्थों की या कीर्ति प्रतिष्ठादि की अनुकूल आकांक्षा की वह आर्त्तध्यान है। इससे भी अधिक है रौद्र ध्यान कि जिस में हिंसा-झूठ-चोरी व संरक्षण का प्रकाम रौद्र चिंतन किया जाता है। इन दोनों ध्यानों से बचने की सावधानी रखनी।

(२) अधिकरण—अधिकरण है जो हिंसादि पाप के साधन जैसे छोटी गिरधी (कटारी), आग, हल चाकू, छुरी इस बगैर जोखम भरी शस्त्र सामग्री चीजनी मुफ्त मालुम —इत्यादि दूसरों को नहीं देना इससे हिंसादि पाप में प्रेरणा होती है, निमित्तभूत बनना पड़ता है।

(३) पापोपदेश—अमेरा-अमुक हो हिंसामयी कार्य आदि करे ऐसी राय, सम्मति सूचना देनी नहीं। हिंसा झूठ-चोरी वगैरह का सूचना उपदेश न देना। कामोत्तेजक वचन या भाव-विभ्रम इत्यादि के उत्पादक शब्द बोलना नहीं। वाचालता नहीं रखनी। इस पापोपदेश से प्रयोजन सिद्ध नहीं परन् हिंसानु बनना पड़ता है।

(४) प्रमादाचरण—सिनेमा नाटक-तमाशा सर्कस क्रिकेट वगैरह खेल न देखने की तास-जुआ आदि न खेलने की फांसी-पहुयुद्ध-मल्लयुद्ध इत्यादि हिंसापोषक प्रसंग न देखने की प्रतिज्ञा रखनी। अशक्य हो तो शक्य अमुक प्रमाण से अधिक के त्याग की प्रतिज्ञा रखनी। जो शौक-मनोरंजन आदि के लिए तोता, कुत्ता इत्यादि पालना नहीं, नदी तलाब आदि में शौक हेतु स्नान नहीं,

करना। ऐसे अति उद्भट वेष भूषा या भोग नहीं करना। जीवने के लिए और भी अनावश्यक प्रवृत्ति आदि का त्याग करना। प्रमादाचरण आत्मा को बाह्यभाव और कषाय मे पटकते हैं। श्रावक तो 'सर्वथा निर्दोष निष्पाप जीवन कब मिले' ऐसी उत्कट अभिलाषा वाला होता है, सो वैसे उच्च आत्मविकास के प्रतिबन्धक बाह्यभाव व कषायों का पोषण वह हरदम न करें।

९. सामायिक व्रतः--

सर्वथा निर्दोष-निष्पाप जीवन का प्राथमिक अभ्यास सामायिक में होता है। समस्त सासारिक पाप प्रवृत्ति का त्याग कर विधिपूर्वक दो घड़ी के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो कटासन पर बैठ कर के ज्ञान-ध्यान मे लीन होने की क्रिया को सामायिक कहते हैं। नौवें व्रत मे 'रोज इतने सामायिक, या प्रतिमास कि वा प्रतिवर्ष अमुक सामायिक मैं करूंगा।'—ऐसी प्रतिज्ञा की जाती है।

प्र०—ऐसी प्रतिज्ञा से क्या विशेष ?

उ०—बिना प्रतिज्ञा तो सामायिक में जब बैठे तभी लाभ मिलता है, और प्रतिज्ञा करने से इतनी विरति का लगातार सतत लाभ प्राप्त होता है यह अधिक है।

सामायिक में मन-वचन-काया की पाप प्रवृत्ति, विकथादि प्रमाद एव सामायिक भाव का विस्मरण न हो, यह सावधानी रखनी।

१०. देशावकाशिक व्रतः—

इस व्रत में मुख्य रूप से अमुक मर्यादित स्थान निश्चित कर, इतने से बाहर नहीं जाना, बाहर के साथ कोई व्यवहार नहीं करना। इसकी अमुक समय के लिए प्रतिज्ञा की जाती है। इसमें अन्य व्रतों की मर्यादा का और भी सक्षेप किया जाता है। चालू प्रवृत्ति में दिन

में कम से कम एकासन तप के साथ दो प्रतिक्रमण तथा आठ सामायिक किया जाए उसको देशावकाशिक कहते हैं। इस व्रत में वर्ष भर में अमुक देशावकाशिक करने की प्रतिज्ञा की जाती है। प्रस्तुत व्रत के मर्म को प्राप्त करने के लिए आठ सामायिक से अतिरिक्त अवशिष्ट समय में सांसारिक प्रवृत्ति में न पड़ते हुए ज्ञान ध्यानादि धर्म-प्रवृत्ति में रत होना हितावह है।

इस व्रत के यथार्थ पालन हेतु निश्चित भूमि के बाहर से न किसी को बुलाना और न बाहर भेजना... इत्यादि सावधानी रखनी।

११ पौषध व्रत —

पौषध अर्थात् दिवस रात्रि या) अहोरात्र में पूर्ण सामायिक के साथ आहार का सर्व त्याग या देश त्याग शरीर सत्कार व व्यापार का सर्वथा त्याग एवं ब्रह्मचर्य इन चार की प्रतिज्ञा करके आवश्यक क्रियाओं तथा ज्ञान ध्यान में रत रहना। इसमें आन्तर धर्म का ठीक पोषण होने से इसे पौषध कहते हैं। इसमें समिति-गुप्ति (जो संवर प्रकरण में दिखलाई हुई) का विशेष रूप से पालन करने का है। इस व्रत में वर्ष भर के लिए अमुक पौषध करने की प्रतिज्ञा की जाती है।

१२ अतिथि-संविभाग व्रत—

अतिथि अर्थात् साधु साध्वी को संविभाग यानी दान देने का यह व्रत है। इस व्रत में बाद् यथाविध्यनुसार चौविहार (निर्जल) या तिविहार (सजल) उपवास के साथ अहोरात्र का पौषध कर पारने में साधु-साध्वी को दान देने के बाद एकासन किया जाता है। वर्ष भर में इतना — अतिथि संविभाग मैं करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा इस व्रत में की जाती है। व्रत के यथार्थ पालन के लिए मुनि को दान देने में माया-कपट न हो, भिक्षासमय की उपेक्षा न हो... इत्यादि सावधानी रखनी।

ये बारह व्रत पूरे या कम यावत् एक व्रत तक भी लिया जा सकता है। अभ्यास के लिए अमुक वर्ष तक के, या अमुक अमुक अपवाद रख कर भी ले सकते हैं।

भाव श्रावक

श्रावकपन की बाहर से अर्थात् प्रदर्शन, कपट, लालच आदि से क्रिया करने वाला द्रव्य श्रावक कहलाता है, और आंतरिक शुद्ध भाव से क्रिया करने वाला भाव श्रावक कहलाता है। भाव श्रावक बनने के लिये आचरण में छ गुणों का होना आवश्यक है और हार्दिक भाव में १७ गुण आवश्यक हैं। ६ गुण इस प्रकार —१ कृत-व्रतकर्मा, २ शीलवान, ३ गुणवान, ४ ऋजु व्यवहारी, ५ गुरु शुश्रूषु और ६ प्रवचन कुशल। इन प्रत्येक के लिये इस प्रकार का आचरण होना चाहिये —

(१) कृत-व्रतकर्मा —व्रत कर्म करने वाला बनने के लिये १ धर्म-श्रवण, २ सुनकर धर्म की जानकारी, ३ व्रत-धर्म स्वीकार और ४ विघ्न में भी दृढतापूर्वक धर्म पालन इन चार मे उद्यमवत हो। (२) शीलवन्त—बनने के लिये-१ आयतन सेवी = सदाचारी, ज्ञानी और सुन्दर श्रावक धर्म पालन करने वाले साधर्मिक युक्त स्थान का ही सेवन करना, २ बिना काम अन्य के घर न जाना, (उसमे भी अकेली स्त्री वाले परघर में नहीं जाना), ३ कभी भी उद्भट-अनुचित, अशोभनीय वस्त्र धारण नहीं करना, ४ असभ्य या विकारी वचन नहीं बोलना, ५ बालक्रीडा-जूआ, व्यसन, शतरंज आदि नहीं खेलना और ६ अन्य से मधुर वचनों का प्रयोग करके काम लेना। (३) गुणवत बनने के लिये —१ वैराग्य वर्धक शास्त्र-स्वाध्याय (अध्ययन-चिंतन-पृच्छा-विचारणादि) में प्रयत्न शील रहना, २ तप,

नियम वंदन आदि क्रिया में उत्साही रहना, ३ गुरुजन, गुणवान आदि का विनय करना (आने पर खड़ा होना, सामने जाना आसन पर बैठाना पहुंचाना पूछना, पर्युपासन करना आदि), ४ सर्वत्र अभिनिवेश-दुराग्रह नहीं रखना और ५ जिनवाणी श्रवण में सदा तत्पर रहना। ● (४) ऋजु व्यवहारी—बनने के लिये १ सत्य, मिश्रित अथवा विसंवादी न बोल कर यथार्थ कहना, २ प्रवृत्ति या व्यवहार दूसरों को ठगने वाला नहीं, परन्तु निष्कपट करना। ३ चूकने वाले जीवों को उनके अनर्थ बताना, और ४ स्नेही संबंधी के साथ सरल मैत्री भाव रखना। ● (५) गुरु शुश्रूषु बनने के लिये १ गुरु के ध्यान भजन में विघ्न न हो इस प्रकार उनकी अनुकूल सेवा स्वयं करनी। २ दूसरों को गुरु सेवाभावी बनाना। ३ गुरु को आवश्यक औषधि आदि का समर्पण करना और ४ बहुमानपूर्वक गुरु की इच्छानुसार अनुसरण करना। ● (६) प्रवचन-कुशल बनने के लिये १-६ सूत्र, अर्थ उत्सर्ग अपवाद भाव और व्यवहार में कुशल होना। १ श्रावक के योग्य शास्त्रों को पढ़ना व अर्थ समझना, ३-४ धर्म में उत्सर्ग अर्थात् मुख्य मार्ग कौनसा तथा द्रव्य, क्षेत्र काल भाव में कब कैसे से अपवाद का सेवन किया जाय—यह जानना-आचरण करना ५. भाव अर्थात् विधि-पूर्वक धर्म साधना करने में कुशल होना और ६ गीतार्थ गुरु द्वारा बताये हुए धर्मव्यवहार में देश कालादि की अपेक्षा लाभालाभ समझना।

भावश्रावक १ गुण—स्त्री वश इंद्रिय संसार, विषय आरंभ, गृह, समकित लोकसंज्ञा, जिनागम दानादि धर्मक्रिया, अरक्तद्विष्ट, मध्यस्थ, असंबद्ध, परार्थभोगी और वेश्यावत्।

● १ स्त्री को नरक की पुरी समझ कर उसमें रत नहीं होना। ● २. धन अनर्थ खड़ा करने और लगाम की खान है यह समझ कर इसका लोभ नहीं करना। ● ३ इन्द्रियाँ आत्मा की भाव शत्रु हैं, जीव को दुर्गति में घसीटकर ले जाती हैं ऐसा जान कर इन पर अंकुश

रखना। ● ४ ससार दु ख रूप, दु खदायी और दु ख की परम्परा देने वाला है, ऐसी भावना करके इसमें से छूटने के लिये तत्परता रखनी। ● ५ विषय शब्द–रूप–रस गंध–स्पर्श ये विष (जहर) हैं, ऐसा मानकर इनमें राग द्वेप नहीं करना। ● ६ आरंभ-सासारिक कार्य–जीवघात पूर्ण है ऐसा सोच कर बहुत कम मे चलाना। ● ७ ग गृहस्थावास पट्काय जीव सहारमय और १८ पापस्थानक युक्त है ऐसा मानकर कारावास तुल्य मानना और दीक्षार्थ छोडने का अथक प्रयत्न करना। ● ८ सम्यक्त्व को चिन्तामणि रत्न से भी अधिक समझ कर सतत शुभ भावना से और शासन-सेवा प्रभावना से टिकाना, निर्मल करते रहना। इसके सामने महान् वैभव भी तुच्छ गिनना। ● ९ लोकसंज्ञा गतानुगतिक लोक की प्रवृत्ति में न लग जाना और सदा सूक्ष्म बुद्धि से विचार करना। ● १० जिनागम के सिवाय कोई भी परलोकहित मार्ग दर्शक नहीं है ऐसी दृढ श्रद्धा से जिनाज्ञा को शिरोधार्य करना। ● ११ दानादि धर्म में यथाशक्ति आगे बढना। ● १२ अमूल्य दुर्लभ और एकान्त हितकारी धर्मक्रिया का यह सुवर्ण अवसर मानकर, इसमें अज्ञानियों की मजाक की भी अवहेलना करके सतत उद्यत रहना। ● १३ धन-स्वजन-आहारादि को मात्र शरीर टिकाने के साधन मानकर इनमें राग-द्वेप न करना, मध्यस्थ रहना। ● १४ उपशम को ही सुख का प्रवचनसार मानकर दुराग्रह न करना, सत्य का आग्रही बनना। ● १५ धन स्वजनादि का योग नाशवान् समझ कर इन्हें पराया मानना इन पर आतरिक ममता न रखना। ● १६ विरागी बनकर भोगों को तृष्णावर्धक समझते हुए इन्हें मात्र कौटुम्बिक आदि के दाक्षिण्य से भोगना। ● १७ वेश्या की भाति गृहस्थवास को वेगार रूप मानना और आज त्याग करू, कल त्याग करू ऐसी भावना में रमण करना।

को स्थल वार याद करके वदना करनी, विचरते हुए सीमधर आदि भगवान और शत्रुजय तीर्थ की वंदना स्तुति करनी, तथा महान सत व सतियों को स्मरण करना, उपकारियों का स्मरण करना, मैत्री आदि भावना याद करनी, फिर पच्चक्खाण धार लेना। पच्चक्खाण कम से कम नवकारसी का करना, इसमें सूर्योदय के पश्चात् दो घड़ी तक मुह में पानी की बूद भी नहीं डालनी चाहिये।

फिर जिनमदिर जाकर परमात्मा के दर्शन, प्रणाम, स्तुति करनी चाहिये। प्रभु दर्शन करते हुए उच्च मनुष्य भव, धर्म सामग्री आदि पुण्याई में प्रभु का महान उपकार है, यह याद कर के गद्गद होना चाहिये। चिंतामणि से भी अधिक प्रभु ने दर्शन दिये इसका ऐसा अतिहर्ष और प्रभु का अनुपम उपकार याद करना कि रोमाच खड़ा हो जाये, आँख आसू भीगी हो जाय। फिर धूप, दीप, वासक्षेप आदि पूजा तथा चैत्यवदन, स्तवन करके पच्चक्खाण उच्चारण करना। फिर उपाश्रय में गुरु महाराज के पास जाकर वदना करके सुखसाता पूछनी चाहिए और उनके पास पच्चक्खाण लेना चाहिये, उन्हें भात-पानी, वस्त्र, पुस्तक, औषध का लाभ देने की विनती करनी चाहिये।

बाद मे घर आकर जो नवकारसी पच्चक्खाण हो तो उसका कार्य कर गुरु-महाराज के पास आकर आत्महितकर अमूल्य जिनवाणी सुननी। कुछ न कुछ व्रत, नियम, अभिग्रह करना, जिससे सुना हुआ उपयोग मे आता है और जीवन में आगे बढा जाता है।

इसके बाद जीव-जन्तु न मरे यह ध्यान रख परिमित जल से स्नान करके परमात्मा की अष्ट प्रकार की पूजा करनी। पूजा मे अपनी शक्ति को छिपाये विना दूध, चदन, केशर, पुष्प, वर्क, अक्षत, फूल, नैवेद्य आदि द्रव्य सामग्री का सदुपयोग करना, क्योंकि जिनेश्वर

भगवान् ही तो सर्वोत्तम पात्र हैं; उनकी भक्ति में समर्पित लक्ष्मी अक्षय लक्ष्मी बन जाती है जैसे समुद्र में डाला हुआ एक पानी की बूंद भी अक्षय बन जाती है। द्रव्य पूजा के बाद भाव पूजा में खूब उल्लास से गद्गद् स्वर में हृदय द्रवित होता हो इस प्रकार चैत्य-वंदन करना। इसमें अंत में जय वीयराय सूत्र में भव-निर्वेद मार्गानुसारिता आदि आठ वस्तु रख कर विनयपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिए।

फिर श्रावक घर आकर अभक्ष्य-त्याग द्रव्य-संक्षेप और विगई (रस) के नियम पूर्वक भोजन से निपट कर अन्याय-त्यागादि धर्म मंगल करके जीवन निर्वाह के लिए अर्थ चिन्ता करने जावे। धर्म मंगल इसलिये कि धर्म पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है, जो दूसरे पुरुषार्थों के अग्रस्थान पर इसे रखना चाहिये। धंधे में झूठ, अनीति, दया निर्दयता आदि आचरण में न आ जावे इसकी खूब संभाल रखनी। लोभ कम करना। कमाई में से आधा भाग घर खर्च में चौथाई भाग बचत वाले और चौथाई धर्म-कार्य में व्ययोजित करना चाहिए।

शाम का भोजन इस प्रकार निपटना कि सूर्यास्त की दो घड़ी पहले या कम में सूर्यास्त से पहले पानी का उपयोग कर रात्रि भोजन त्याग रूप चौविहार पच्चक्खाण हो जाय।

फिर जिनमंदिर में धूप आरती मंगल-दीप चैत्यवंदन करना, बाद में शाम का प्रतिक्रमण करना। प्रतिक्रमण न हो सके तो आत्म निरीक्षण पापस्थानविचार, शान्तिपाठ करके गुरु महाराज की सेवा उपासना करनी चाहिये। घर आकर कुटुम्ब को धर्म-शास्त्र का बोध कर भगवान आदि महापुरुषों के चरित्र सुनाना। फिर स्वयं कुछ न कुछ नया अध्ययन करके तत्त्वज्ञान पढ़ना चाहिये। फिर

अनित्य, अशरण, आदि भावना भावनी, स्थूलभद्र, सुदर्शनसेठ, जबूकुमार आदि के ब्रह्मचर्य के पराक्रम को याद करना, अनत ससार में भटकाने वाले व कभी तृप्त न होने वाले काम वासना की जुगुप्सा सोचनी, नींद आवे तब नवकार मत्र स्मरण कर सो जाना व सोते २ तीर्थयात्रा का स्मरण करना, रात को जाग जायें तो इन १० विषयों पर चिंतन कर सवेग (धर्मरंग) की वृद्धि करनी, सूक्ष्म पदार्थ, भवस्थिति, अधिकरण शमन, आयुष्य हानि, अनुचित चेष्टा, क्षणलाभदीपन, धर्मगुणगण, बाधकदोषविपक्ष, धर्माचार्य एवं उद्यत विहार।

<u>सवेगवर्धक १० चिंतन</u> – ●(१) कर्म, कर्म-बन्ध के कारण, कर्मविपाक आत्मा का शुद्ध व अशुद्ध स्वरूप, षड्द्रव्य इत्यादि सूक्ष्म पदार्थ की विचारणा। ● (२) भवस्थिति याने ससार-स्वरूप पर परामर्श करना, जैसे—'राजा रंक होता है, रंक राजा, बहिन पत्नी होती है पत्नी माता, पिता पुत्र होता है, पुत्र पिता ' ऐसा ससार कैसा निर्गुण ! ● (३) अधिकरण याने कलह, अथवा कृषिकर्म आदि, या पाप साधन उनका शमन, रुकावट व त्याग मैं कब करूंगा ये कितने भव वर्धक हैं ! .' ● (४) आयुष्यहानि — 'प्रतिक्षण आयुष्य क्षीण हो रहा है। कच्चे घड़े के पानी की तरह अवश्य नष्ट हो जाने वाला है, बीते दिन वापस लौटते नहीं, और आयुष्य का सर्व नष्ट हो जाने के बाद कुछ भी धर्म साधना नहीं हो सकेगी, तब मैं कहा तक प्रमाद में रहूँगा !' ●(५) अनुचित चेष्टा जैसे —कि जीवहिंसा, असत्य, स्वार्थाधता ईर्षा, इन्द्रियवशता, कूड कपट इत्यादि कितने वीभत्स हैं। इनका यहा एवं परलोक में कैसा कैसा कटु विपाक भोगना पड़ता है ' इत्यादि चिंतन करना। ● (६) क्षणलाभदीपना —'अल्पक्षणों के भी शुभाशुभ विचार कितने महान शुभा-शुभ कर्म का वंध कराते हैं।' अथवा 'द्रव्य क्षेत्र-

भव-भ्रमण से मोक्ष साधने का यह कितना सुन्दर अवसर (समय) प्राप्त हुआ है। इस भवसागर में दीपक किंवा समुद्र में द्वीप के समान जैन धर्म का यह कितना सुन्दर मार्ग मिला है!— ◯ (७) धर्म-गुणचय के रूप में मूलधर्म का सम्यग् मध्यम उत्तम-अनुपम गुण एवं चारित्र धर्म का यह आशय विषयादि का शमन द्वारा इत्यादि से भी अधिक शुभानुभव गुण का चिन्तन अथवा क्षमा मृदुता आदि धर्म के कारण स्वरूप-फल का चिन्तन। ◯ (८) बाधकदोषविपक्ष- में धर्माभिमान होने पर भी जो जो बाधक मिथ्यात्व-राग-काम-क्रोधादि दोषों से पीड़ित होता हो उसके प्रतिपक्षी (विरुद्ध) विरागादि की *विचारणा करनी, उस बल के पीछे जैसा उपाय समझ में आकर धर्मरक्षा* भी करनी होती है। इत्यादि। (९) धर्माचार्य—'धर्म की *प्राप्ति वृद्धि में कारणभूत जिनने महाउपकारी ये स्वामी गुरु मिले।...* ◯ (१०) उत्तमविहार—'अविकलभाव माधुकरी-भिक्षा पञ्चज चर्या स्वविहार इत्यादि कितना सुन्दर मुनिविहार! मैं कब पाऊंगा?'—

◯ नवकार मंत्र और पंच परमेष्ठी ◯

नवकार मंत्र यह पंच परमेष्ठी को नमस्कार करने का सूत्र है। यह सूत्र व सूत्र से किए जाने वाला नमस्कार महामंगल रूप है। सब विघ्न दूर करता है और अचिन्त्य सिद्धियाँ कर देता है। इससे सद्गति मिलती है और नमस्कार करते वक्त परमेष्ठी के गुण के प्रति आकर्षण रहता है, इससे गुण की सिद्धि करने की दिशा में पहला कदम उठाया जाता है। कोई भी धर्म सिद्ध करने के लिए यह पहला सोपान है कि इसका आकर्षण उत्पन्न किया जाए। परमेष्ठीनमस्कार में यह आकर्षण सक्रिय बनता है। पंच परमेष्ठी में अरिहंत सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधु आते हैं।

१ अरिहंत-प्रथम परमेष्ठी हैं। अरिहंत यानी देवों द्वारा भी की जाती पूजा के जो अर्ह है, योग्य है, जिन्होंने अज्ञान, निद्रा, पांच दानादि के अंतराय, ये सात, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, व काम ये पांच, तथा हास्य, शोक, हर्ष उद्वेग, भय व जुगुप्सा (दुर्गंछा) ये छ–इस तरह १८ दोष त्याग दिये है, जो वीतराग सर्वज्ञ बने हैं, जिनमें ३४ अतिशय (विशिष्ट वस्तु) उत्पन्न हुई है। ३४ अतिशयों का एक भाग आठ प्रतिहार्य हैं, ये इनके साथ रहते हैं। ये विभूति उत्पन्न होने में कारणभूत उनके द्वारा पूर्व भव में साधे हुए सम्यग् दर्शन आदि उच्च कोटि की साधना है। उसी तरह संसार के कर्मपीडित सर्व जीवों का मैं कैसे उद्धार करु ऐसी करुणा भावना है। अरिहंत बनने के जीवन में भी बडी बड़ी राज ऋद्धियें, वैभव विलास आदि को तिलाजली देकर सर्व पापवृति के त्याग रूप अहिंसादि के महाव्रत स्वीकार करते हैं। फिर कठोर संयम, तपस्या, ध्यान, व उपसर्ग-परिषह को सहन करते है। इससे ज्ञानावरण आदि चार घाती कर्म का नाश कर वीतराग सर्वज्ञ बनते हैं। यहा पूर्व की प्रचंड साधना से उपार्जित तीर्थंकरपन के पुण्य का उदय होता है और ये अरिहंत बनते हैं, फिर धर्म शासन की स्थापना करते हैं। जगत को यथार्थ तत्त्व और मोक्षमार्ग देते हैं एवं चतुर्विध संघ की स्थापना करते है। क्रमश आयुष्य समाप्त होते ही शेष वेदनीय आदि कर्म का क्षयकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

२ सिद्ध–भगवान दूसरे परमेष्ठी हैं। अरिहंत न हो सके ऐसी भी आत्मा अरिहंत के उपदेशानुसार मोक्षमार्ग की साधना कर सर्व कर्म का नाश करके मोक्ष प्राप्त करती हैं। सिद्ध परमात्मा पूरे शुद्ध बुद्ध, निरंजन, निराकार स्थिति प्राप्त कर लोक के उपर सिद्धशिला पर शाश्वत् काल के लिये स्थिर होते हैं। इन्हें सिद्ध भगवान कहते हैं। इनमें अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अव्याबाध अनंतसुख, अनंतवीर्य आदि गुण होते हैं।

श्यक क्रियायें और ज्ञान ध्यान में दिनरात मस्त रहते हैं। दाढी-मुछ, सिर के बाल भी हजामत से नहीं पर हाथ मे उखाड डालते हैं। लोगों को अहिंसा, सत्य, नीति, सदाचार, दान, शील, तप, शुभ-भावना, परोपकार आदि धर्म का उपदेश करते हैं।

इन पाच परमेष्ठी में से हर एक परमेष्ठी इतने अधिक पवित्र प्रभावशाली हैं कि इनका वारंवार स्मरण और वारंवार नमस्कार करने से विघ्न दूर होते है। चित्त की अनुपम स्वस्थता, तृप्ति, और आध्यात्मिक वल मिलता है। पाच परमेष्ठी का स्मरण, नमस्कार, स्तुति, जप, ध्यान, और लय सर्व कर्म का क्षयकर मोक्ष पद देता है। अलयत्ता इसके साथ श्रावक हो वहा तक श्रावक अवस्था के और साधु होने के वाद साधु-अवस्था के उचित अनुष्ठानों का वरावर पालन करना चाहिये।

:: व्रत-नियम ::

श्रावक की दिनचर्या में सुवह पच्चक्खाण नियम करने की वात आई है। व्रत नियम ये जीवन के अलकार हैं। ये जीवन को ऐसा सुशोभित करते हैं कि इस पर पुण्याई और सद्गति आकर्षित होती हैं।

पहले देखा है कि पाप आचरण न करते हुए भी, नियम न हो तो आत्मा पर कर्म चिपकते हैं, नियम करने से ये अटकते है और मन भी वधन में आने से भविष्य मे नियम पहुँचे वहा तक पाप सेवन में मन होता नहीं।

नियम में यहा तीन प्रकार देखेंगे (१) पच्चक्खाण, (२) चौदह नियम, व (३) चातुर्मासिक और जीवन भर के नियम।

● (१) पच्चक्खाण —दिवस और रात्रि के अन्न-पानी का त्याग का अलग २ नियम-ये यहा पच्चक्खाण समझने के हैं।

आहार चार प्रकार के हैं अशन पान खादिम और स्वादिम। अशन में जिससे पेट भरता है व खाते हैं जैसे अन्न मिठाई दूध दही आदि। (२) पान में पानी आदि पेय आते हैं (३) खादिम में फल (मेवे-बादाम आदि), चरसाल चिवड़ा आदि सीका हुआ या भुना हुआ पदार्थ (४) स्वादिम में मुखवास मसाला औषधि आदि।

इन चार के सिवाय कितनी ही कड़वी बे स्वाद या भस्म होती हैं जिसे अनाहारी द्रव्य कहते हैं। जैसे राख, चीता आदि प्रत्याख्यान के समय में उपयोग में आती हैं। पर इसके साथ यदि पानी लिया जाता है तो वह आहारी बन जाती है। अतः पानी बिना अकेली ही ली जाती है। ऐसी अनाहारी वस्तु में कडू, चिरायता (करियाता) इन्द्रजव कत्था नीम त्रिफला राख भस्म आदि गिने जाते हैं।

दिन के प्रत्याख्यान में सूर्योदय से दो घड़ी तक चारों प्रकार के आहार का त्याग रखने के लिये नवकारसी प्रत्याख्यान करना होता है। सूर्योदय से एक प्रहर (¼ दिनमान) तक का त्याग पोरसी प्रत्याख्यान से होता है। ऐसे ही साढपोरसी प्रत्याख्यान में १॥ प्रहर, पुरिमड्ढ में प्रहर (॥ दिवस) अवड्ढ में ३ प्रहर तक चारों आहार का त्याग रहता है। यह प्रत्याख्यान पूरा होने के बाद मुट्ठी बंद कर नवकार गिनके खाना-पीना किया जाता है, क्योंकि इस प्रत्याख्यान के साथ "मुट्ठिसहियं" प्रत्याख्यान होता है। मुट्ठिसहियं याने जहाँ तक मुट्ठी बंद कर नवकार न गिनूं वहाँ तक चार आहार का त्याग ऐसा नियम। दिन में बारबार यह प्रत्याख्यान करने से अनशन का बहुत लाभ मिलता है।

इसके अलावा शुक्ल कृष्ण पक्ष की बीज पंचमी अष्टमी, एकादशी चतुर्दशी, पूनम व अमावस्या के १२ तिथी में खास कर

वियासना, एकासना, नीवी, आयंबिल, उपवास आदि तप करने में आते हैं। बियासना में दो बैठक से एवं एकासना में मात्र एक ही बैठक पर आहार, शेष दिन-रात्रिमें त्याग, नीवी-एकासना में दूध, दही, घी, तेल, गुड़, शक्कर, और कढा (कढाई मे तली हुई आदि) इन छ विगई का त्याग व फल, मेवा हरा साग का त्याग उसी तरह आयंबिल में उसके उपरांत हल्दी, मिरची, कोकम, इमली, राई, धनिया, जीरा, आदि मसाले का भी त्याग याने पानी में पकाया हुआ, बिना चुपड़ा भात, रोटी, दाल, आदि से एकासन करना होता है।

उपवास में दिवस रात्रि भर के लिये आहार का त्याग होता है। दिवस में कदाचित् कुछ लेना हो तो उबाला हुआ पानी ले सकते हैं। रात्रि मे पानी भी नहीं। वियासने से लेकर उपवास तक तप में पानी मात्र तीन उबाल वाला ही उपयोग में लिया जा सकता है।

अधिक तप करना हो तो एक साथ दो उपवास याने छठ, तीन उपवास याने अट्ठम, ४-५-६-७ आठ उपवास याने अट्ठाई आदि की जाती है। वैसे वर्धमान आंविल तप, नवपदजी ओली तप, वीस-स्थानक तप, ज्ञानपंचमी तप, २४ भगवान के एकासने, पंच कल्याणक का तप आदि करने में आते हैं।

रात्रि के पच्चक्खान में, दिन में छूटे हो तो चौविहार-तिविहार आदि किये जाते हैं। चौविहार अर्थात् सूर्यास्त से लेकर चारों आहार का त्याग, तिविहार याने पानी सिवाय तीन आहार का त्याग, दुविहार—अशन, खादिम इन दो आहार का त्याग होता है। वेआसन आदि तप में तो सूर्यास्त बाद पाणहार पच्चक्खान करना होता है। इससे दिवस में छूटा रखा हुआ पानी भी बंद करना होता है।

चौदह नियम

रोज के जीवन में जगत की सब वस्तु उपयोग में आती नहीं फिर भी इनके उपयोग का त्याग रखने की प्रतिज्ञा न की हो अर्थात् विरति न हो, अविरति हो तब उसके संबन्ध पापबन्ध चालू रहता है। जब इनके त्याग का नियम लिया हो तो अपार कर्मबन्धन से बचा जाता है। इसलिये सुबह दिन भर के लिए और शाम को रात्रि भर के लिए १४ नियम कर लेने चाहिये। १२ घन्टे के ये नियम इनमें मुश्किल बिलकुल नहीं। नियम धारण करने का अभ्यास हो जाने बाद १-२ मिनिट का एक पल का काम और अनंत पाप से बाहर निकला जाता है यानी पल में पाप के ढेर पार पहुंचा जाता है। १४ नियम की गाथा—

सचित्त-दव्व विगई,-वाणह-तंबोल-वत्थ-कुसुमसु ।
वाहण-सयण-विलेवण-बंभ-दिसी-न्हाण-भत्तेसु ॥

(१) सचित्त—सजीव कच्ची साग, ममरू, तरबूज हरे फल आदि में से आज के दिन अमुक संख्या से अधिक का उपयोग नहीं करूं गा ऐसा नियम। (२) द्रव्य-द्रव्य भिन्न २ नाम व स्वाद वाली वस्तु आज ५ या १० १५, २० आदि से अधिक नहीं खाऊं। (३) विगई—दूध दही, घी तेल गुड़ (शक्कर) तथा ये छ विगई में से अमुक का आज त्याग। इसमें दो भाग हैं। १ कच्ची विगई—ठंडा या गर्म दूध दही, छाछ घी तेल गुड़ और एक दो या तीन वाफ वाली तली हुई वस्तु। २. पक्की विगई (नीवीयातु) में इसका परिवर्तन हुआ गिना जाता है, जैसे दूध की चाय, मावा बासुन्दी, दूध पाक, खीर, आदि; दही-छाछ की कढ़ी, दहींवड़ा वड़ श्रीखंड रायता आदि; घी तेल में तीन बार तले जाने के बाद बचा

हुआ घी तेल, (१) घी-तेल में छौंका हुआ साग आदि, गुड की पक्की विगई शक्कर, पताशा, खाड, रसोई मे डाला हुआ गुड आदि, पक्की कढा विगई में तीन घाण के ऊपर के घाण में तली वस्तु, पोता देकर किया हुआ ढेवरा आदि, घी मे आटा सेक कर बना हुआ सीरा हलुआ मोहनथाल, मैसूर आदि। इन सब मे से बने उतनी कच्ची-पक्की दोनों हो या अमुक का त्याग किया जा सकता है।

● (४) वाणह —अमुक जुते से अधिक नहीं वापरू । (५) ● तबोल —पान, सुपारी, वरियाली आदि अमुक से अधिक नहीं। ● (६) वस्त्र —आज अमुक सख्या से अधिक नहीं वापरू-पहनू । (७) ● कुसुम —इसमें फूल, इत्र (अत्तर) आदि सु घने का प्रमाण निश्चित किया जाता है। ● (८) वाहन ● (९) शयन —बिस्तर, खाट, पलग, आदि। ● (१०) विलेपन —साबुन, वेसलिन, स्नो, तेल आदि अमुक मर्यादा से अधिक नहीं काम में लू । ● (११) ● ब्रह्मचर्य —काया से दिन मे सम्पूर्ण पालु गा । ● (१२) दिशा —आज मील से बाहर नहीं जाऊगा। ● (१३) न्हाण —स्नान एक या दो बार से अधिक नहीं करू । ●(१४) भात-पानी रतल से अधिक नहीं वापरू ।

इन चौदह नियम के साथ बाहर के उपयोग में आती कितनी ही वस्तु का नियम होता है जैसे ● (१) पृथ्वीकाय मे —मिट्टी, साबुन, सोडा अमुक प्रमाण से अधिक नहीं काम में लू । उसी तरह (२) अप्काय मे १, २, ४, बाल्टी से अधिक पानी, (३) अग्निकाय मे आज के १ २, ३, चूल्हे से अधिक में बनी वस्तु, (४) वायुकाय में अमुक झुला, पखे, से अधिक, (५) वनस्पतिकाय मे लेप खान-पान आदि के लिये भाजी आदि अमुक रतल से अधिक काम में न लू, (६) त्रसकाय मे निरपराधी चलते फिरते जीव को जानकर मारू गा नहीं। ● (७) असी मे चाकु, कतरनी, सुई आदि (८) मषी मे

जाये तो शुभ खाते में पावली भरूंगा। ● महीने में इतने बेआसना, एकासना, आयंबिल, उपवास करूंगा। ● रोज या पर्व-तिथि के दिन घर में उबला हुआ पानी ही पीऊंगा। ● वर्धमान तप का पाया (प्रारंभ) खोलूं, नवागु यात्रा, उपधान आदि न करूं वहां तक कथा गुड या अमुक त्याग। ● चारित्र न लिया जाये वहां तक अमुक त्याग अगर रोज 'नमो चारित्तस्स' की १ नवकार वाली गिननी। ● वर्ष में १ तीर्थयात्रा, धार्मिक खाते रू० खर्च। इतने सामायिक, इतनी नवकार-वाली (माला) न हो तो दंड। पर्वतिथि के दिन हरा साग फल, एवं सचित्त खाने पीने का त्याग, एवं खांडना दलना-कपड़े धोने आदि त्याग तथा ब्रह्मचर्य पालूंगा।

चातुर्मासिक नियमः—

चौमासा में जीवोत्पत्ति अधिक तथा विकारों की प्रबलता व व्यापार धंधा मंद एवं गुरुमहाराज का योग होने से धर्म करने की मोसम होती है। अत चौमासे के लिए खास नियम किये जाते हैं। १८ देश के राजा कुमारपाल चौमासे में रोज एकाशन, घी सिवाय पाच विगई का त्याग, हरा साग त्याग, चारों माह ब्रह्मचर्य, पाटण से बाहर जाना नहीं, आदि नियम रखते थे। इस प्रकार शक्ति अनुसार नियम कर लेने चाहिए। उदा०-किसी के मृत कार्य या अकस्मात् सिवाय बाहर गाव जाना नहीं। विशेष समझ आगे 'चातुर्मासिक कर्तव्य' में देखिए।

जीवन के नियम :—

ऐसे जीवन भर के लिये नियम लिये जाते हैं। जैसे जीवनमे कभी खेती करनी नहीं। बड़े यन्त्रों की फेक्टरी का धंधा करना नहीं।

जाये तो शुभ खाते मे पावली भरू गा। मही‌ने मे इतने बेआसना, एकासना, आयंबिल, उपवास करू गा। रोज या पर्व-तिथि के दिन घर मे उबला हुआ पानी ही पीऊंगा। वर्धमान तप का पाया (प्रारभ) ओली, नवाणु यात्रा, उपधान आदि न करू वहा तक कचा गुड या अमुक त्याग। चारित्र न लिया जाये वहा तक अमुक त्याग अगर रोज 'नमो चारित्तस्स' की १ नवकार वाली गिननी। वर्ष में १ तीर्थयात्रा, धार्मिक खाते रू० खर्च। इतने सामायिक, इतनी नवकार-वाली (माला) न हो तो दंड। पर्वतिथि के दिन हरा साग-फल, एवं सचित्त खाने पीने का त्याग, एव खाडना दलना कपड़े धोने आदि त्याग तथा ब्रह्मचर्य पालू गा।

चातुर्मासिक नियमः—

चौमासा में जीवोत्पत्ति अधिक तथा विकारों की प्रबलता व व्यापार धंधा मद एवं गुरुमहाराज का योग होने से धर्म करने की मोसम होती है। अत चौमासे के लिए खास नियम किये जाते है। १८ देश के राजा कुमारपाल चौमासे में रोज एकाशन, घी सिवाय पाच विगई का त्याग, हरा साग त्याग, चारों माह ब्रह्मचर्य, पाटण से बाहर जाना नहीं, आदि नियम रखते थे। इस प्रकार शक्ति अनुसार नियम कर लेने चाहिए। उदा०-किसी के मृत कार्य या अकस्मात सिवाय बाहर गाव जाना नहीं। विशेष समझ आगे 'चातुर्मासिक कर्तव्य' मे देखिए।

जीवन के नियम :—

ऐसे जीवन भर के लिये नियम लिये जाते है। जैसे जीवनमें कभी खेती करनी नहीं। बड़े यन्त्रों की फेक्टरी का धंधा करना नहीं।

जाये तो शुभ खाते मे पावली भरू गा। ● महीने में इतने वेआसना, एकासना, आंबिल, उपवास करू गा। ● रोज या पर्व-तिथि के दिन घर में उबला हुआ पानी ही पीऊंगा। ● वर्धमान तप का पाया (प्रारभ) ओली, नवाणु यात्रा, उपधान आदि न करू वहा तक कच्चा गुड या अमुक त्याग। ● चारित्र न लिया जाये वहा तक अमुक त्याग अगर रोज 'नमो चारित्तस्स' की १ नवकार वाली गिननी। ● वर्ष में १ तीर्थयात्रा, धार्मिक खाते रू०.. खर्च। इतने सामायिक, इतनी नवकार-वाली (माला) न हो तो दंड। पर्वतिथि के दिन हरा साग फल, एवं सचित्त खाने पीने का त्याग, एवं खाडना दलना-कपड़े धोने आदि त्याग तथा ब्रह्मचर्य पालू गा।

चातुर्मासिक नियमः—

चौमासा में जीवोत्पत्ति अधिक तथा विकारों की प्रबलता व व्यापार धधा मद एवं गुरुमहाराज का योग होने से धर्म करने की मोसम होती है। अत चौमासे के लिए खास नियम किये जाते हैं। १८ देश के राजा कुमारपाल चौमासे में रोज एकाशन, घी सिवाय पाच विगई का त्याग, हरा साग त्याग, चारों माह ब्रह्मचर्य, पाटण से बाहर जाना नहीं, आदि नियम रखते थे। इस प्रकार शक्ति अनुसार नियम कर लेने चाहिए। उदा०-किसी के मृत कार्य या अकस्मात् सिवाय बाहर गाव जाना नहीं। विशेष समझ आगे 'चातुर्मासिक कर्तव्य' में देखिए।

जीवन के नियम :—

ऐसे जीवन भर के लिये नियम लिये जाते हैं। जैसे जीवनमें कभी खेती करनी नहीं। बड़े यन्त्रों की फेक्टरी का धंधा करना नहीं।

सात व्यसन का सेवन करना नहीं। मिथ्या देव-गुरु-धर्म को मानना पूजना नहीं। परस्त्री गमन व अमुक वय के बाद मादक सेवन नहीं करना। घर पर मोटर गाड़ी पशु, बंगला रेडियो टेलीफोन आदि रखने नहीं। पूर्वोक्त में से भी कई नियम लिया जा सकते हैं। बारह व्रत लिये जा सकते हैं।

२२

★ जिन भक्ति और गुरुवंदन ★

भगवान अरिहंत परमात्मा का अपने पर बहुत ही अनंत उपकार है। इनके प्रभाव से ही ऐसा सुन्दर मनुष्य भव उच्च कुल आर्य जीवन आदि मिला है। इसी तरह इनके दिये मार्ग मात्र से ही तैरने का है, तो इनकी भक्ति दर्शन पूजा आदि किये बिना रहा नहीं जा सकता। रोज की अन्य प्रवृत्ति की तरह यह प्रवृत्ति भी अवश्य चाहिये। थाली पर तैयार भोजन के दर्शन कर पेट नहीं भरते वैसी तरह यहाँ मात्र अनुमोदन से ही कैसे चले? पूजा भी अवश्य करनी चाहिये। हमेशा इनकी भक्ति में कुछ न कुछ चावल रोज दूध घी आदि समर्पण करना ही चाहिये। रोज इसके लगभग गुरुवंदन साथ व्याख्यान पच्चक्खाण करनी ही चाहिये। भावना तो ऐसी होनी ही चाहिये कि मैं जैन हूँ, मेरे अनंत उपकारी नाथ की भक्ति बिना भोजन कल्पे ही नहीं — ।

मंदिर की विधि :—

१ निकलते—खूब सुन्दर भावना के साथ घर से निकल कर रास्ते में नीचे जीव जंतु न मरे यह ख्याल रख मंदिर — मंदिर बाहर से प्रभु को देखते ही अंजली मस्तक पर

बोलना। फिर मंदिर में प्रवेश करते ही निसीही से लगा चैत्यवंदन तक १० त्रिक पालन करने के होते हैं। प्रवेश पर निसीही बाद प्रदक्षिणा, फिर प्रभु के सामने खड़े हो कर प्रणाम-स्तुति, फिर पूजा, फिर प्रभु के सामने खड़े हो भावना (प्रभु की अवस्था का चिंतन) इस तरह पाच त्रिक, इसके बाद चैत्यवदन करने के पाच त्रिक होते हैं,— इसमें पहले तो भगवान के सिवाय की दिशा देखनी बंद,—फिर बैठने की जमीन पर जीव जतु न मरे सो कपडे के छोर से भूमिप्रमार्जन, तत्पश्चात् चित्त का आलंबन निश्चित करना, बाद हाथ आदि की मुद्रा का आयोजन और पाचवा प्रणिधान (एकाग्रता) को स्थिर करना, व चैत्यवदन करना।

१० त्रिक की समझः—

इसमें प्रत्येक तीन २ हैं। (१) निसीही (निषेध) ३ —पहली निसीही मदिर में प्रवेश करते ही ससार व्यापार छोड़ने के लिये कहना। दूसरी गभारे (गर्भगृह) के द्वार पर पहुँचते वख्त मदिर की सफाई, शिल्पी के कार्य आदि की भाल-भलामण बद करने के लिये कहनी, और तीसरी निसीही चैत्यवदन पहले द्रव्य पूजन का ध्यान बद करने के लिये कहनी।

(२) प्रदक्षिणा ३ —प्रभुजी के दाहिने ओर से बायें चारों तरफ तीन वार फिरना, जिससे भव-भ्रमण मिटे। तीन इसलिये की भव-भ्रमण मिटाने के लिये औषध तीन हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इनकी प्राप्ति हो, घूमते समय जैसे समवसरण की प्रदक्षिणा दे रहे हैं ऐसी भावना करनी। (३) प्रणाम ३ –एक अजली-बद्ध प्रणाम सहज झुके हुए मस्तक पर अंजली लगा कर 'नमो जिणाणं 'बोलना। यह मदिर में पहली ही बार प्रभुदर्शन के समय। दूसरा अर्धावनत प्रणाम गंभारे के द्वार पर, प्रभु के सामने खड़े रहते वक्त शरीर आधा

सहने के साथ अतुल त्याग व कठोर तपस्या की व रात दिन खडे पाव ध्यान किया,और घन घाती कर्मों का सर्वथा नाश किया। धन्य साधना, धन्य पराक्रम !' ● पदस्थ अवस्था —याने तीर्थ कर पद भोगने की अवस्था। इसके सबंध में ऐसी भावना करनी कि 'हे नाथ ! आप अरिहत तीर्थ कर घन जगत पर कितना बडा उपकार किया ! जगत को आपने जीव अजीव आदि सम्यक् तत्त्व दिये, सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र-रूप का मोक्षमार्ग दिया, अनेकातवाद, नयवाद, आदि लोकोत्तर सिद्धात प्रदान किये। हे त्रिभुवन गुरु ! आप अष्ट प्रातिहार्य द्वारा सेवित हैं, इन्द्र जैसे भी आप के चरणों में नमन करते हैं, महा बुद्धिनिधान गणधर भी आपकी सेवा करते हैं । आपकी वाणी का कैसा प्रभाव है कि जगली पशु भी अपने शिकार के साथ मित्र भाव से बैठकर सुनते हैं ! अहो ! आप स्मरण मात्र से दास के पाप नाश करते हैं। आपका कितना अपरपार उपकार ! इस पर भी बदले में आप को कुछ भी नहीं चाहिये ! कैसा अकारण वात्सल्य है !'

● रूपस्थ अवस्था —याने शुद्ध स्वरूप अवस्था के सबंध में विचारने का ? 'हे परमात्मन आपने सर्व कर्म का निमूल नाशकर अशरीरी, अरूपी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सिद्ध अवस्था प्राप्त करके कैसा अनत ज्ञान, अनंतसुख में लीन होने का किया ! कैसे अनत गुण ! कैसी वहा सदा निष्कलक, निर्विकार, निराकार स्थिति ! वहा कोई भी जन्म-मरण, रोग-शोक, दारिद्र इत्यादि पीडा ही नहीं ! धन्य प्रभु !'

ये पाच त्रिक हुए। अब दूसरे पाच त्रिक।

● (६) दिशात्याग ३ —इसके बाद चैत्यवदन करना है तो पहले अपनी दोनों तरफ और पीछे की दिशा में देखना बद करना या उपर नीचे दायें बायें देखना बद कर चैत्यवंदन पूरा हो वहा तक प्रभु के सामने ही देखना। ●(७) प्रमार्जना ३ — बैठते ही तीन बार दुपट्टे के छोर से जगह को मृदुता से प्रमार्जित कर ले, जिससे ठीक ही जीव-रक्षा हो। ●(८)आलबन ३ —बैठकर मन

को तीन आलंबन देने। प्रतिमा इन आ बोलें इन शब्द, अर्थ इनमें सर्व इन तीन में ही चित्त रखना चाहिये ●(५) मुद्रा ३ —सूत्र स्तुति स्तवन आदि बोलते समय दोनों कोहनी पेट पर रख दो हाथ इस प्रकार जोड़ना कि एक अंगुली का सहारे पर दूसरी अंगुली का सहारा आवे । यह योगमुद्रा कहलाती है। 'जावंति चेइआई' 'जावंति केवि साहू' और 'जयवीयराय' सूत्र के वक्त अंगुली के सहारे आमने सामने आवे हाथ के बीच में मोती की सीप की तरह पोला रहे । इस तरह हाथ को मुक्ताशुक्ति मुद्रा कहते हैं। और कायोत्सर्ग वक्त खड़े रहकर दो पांव के बीच में आगे चार अंगुल और पीछे इससे कुछ कम अन्तर रहे हाथ लटकते हुए छोड़ देने दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर रहे। यह जिनमुद्रा कहलाती है। ●(६) प्रणिधान ३—मन इन्द्रिय सहित काया-वचन-मन को दूसरे-तीसरे कार्य वाणी या विचार में न जाने देकर प्रस्तुत चैत्यवंदन में बराबर एकाग्रता स्थापित करनी और चैत्यवंदन करना।

पूजा में सावधानी —यहां ध्यान रखना कि (१) द्रव्य-पूजा में अपनी शक्ति के अनुसार पूजा-द्रव्य घर से ले आने चाहिये। ( ) पुष्प की कलियें तोड़ें नहीं, हार बनाने सुई न छेदे नहीं। (३) प्रभु के अंग पर वालाकूंची का उपयोग करते समय जरा भी उसकी आवाज न हो। हाथ में भरा हुआ कलश सावधानी से संभाल कर न के किसी तरह बोले में भरा हुआ केसर भी। बाकी जो केसर आदि बढ़े पीछे कपड़े से साफ करना। (४) प्रभु के अंग पर चढ़ाने आने वाले पुष्प आभूषण अंग-लूंछने आदि जमीन पर न रखने या छूने चाहिये। गिरे हों तो उपयोग में न लेना। इनको स्वच्छ थाल में रखना। (५) केसर घोटने के पहले मुंह कपड़े से बांध कर हाथ और केसर घोटने का पात्र ठीक धो लेना। (६) चैत्यवंदन स्तुति आदि इस तरह न बोले जावें कि दूसरे को अपनी भक्ति-योग में व्याघात हो। तथा (७) जब तक स्वस्तिक

या दूसरी कोई क्रिया नहीं करनी। (८) बाहर निकलते अपनी पीठ प्रभु को न दिखें इत्यादि।

:: गुरुवंदन ::

गुरु महाराज-मुनि महाराज के पास जाकर वहां अंजलि जोड़ कर "मत्थएण वंदामि" कहना। दिल में महान् ब्रह्मचारी, संयमी मुनि के दर्शन पर अपूर्व आल्हाद प्रगट करना। दो खमासमणे (पंचाग-प्रणिपात) देने के बाद सुखशाता-पृच्छा एवं भात-पानी का लाभ देने के लिये विनंति करनी, 'इच्छकार सुहराई' सूत्र बोलकर सुखशाता पूछें फिर 'अब्भुट्ठिया' सूत्र जमीन पर सिर हाथ रख कर बोलना, इसमें गुरु की अवज्ञा-आशातना का मिथ्या दुष्कृत देना। फिर पच्चक्खान लेना। सूत्रादि का ज्ञान या पच्चक्खान लिया जाय वह वंदना कर के ही लिया जाता है। व्याख्यान में भी पहले वंदना कर के फिर सुनना। गुरु के आगे अविनय न हो, उनकी बाहर निंदा न हो, इनका बुरा न बोलें। ये अविनयादि महान् पाप हैं।

● २३ पर्व और उनकी आराधना ●

साधारण दिनों की अपेक्षा पर्वों के दिनों में विशेष प्रकार से धर्म की आराधना करनी चाहिये, क्योंकि जैसे व्यवहार में दिवाली आदि खास दिनों में लोग विशिष्ट भोजन और आनंद मंगल के कार्य-क्रम करते हैं वो उल्लास बढता है, उसी तरह पर्व आराधना विशेष प्रकार से करने से धर्म-उल्लास बढता है।

सामान्य तौर से पर्व दिवस में तपस्या, प्रभु की विशेष भक्ति, चैत्य परिपाटी (गांव के मंदिरों में दर्शन) समस्त साधुवंदना, पौषध,

चौमासी ग्यारस और चौमासी चौदस उपवास, पौषध, चौमासी देववंदन आदि किये जाते है। आराधक आत्मा को पक्खी (पाक्षिक) चौदस पर उपवास, चौमासी चौदस पर छट्ठ (२ उपवास) और सवत्सरी पर अट्ठम अवश्य करना चाहिये। इसमें १४-१५ छट्ठ की शक्ति न हो तो ग्यारस चौदस दो के छूटे उपवास करने से भी चौमासी पर्व का तप पूरा होता है। ⑬ कार्तिक सुद १ सुबह नवस्मरण, गौतमरास सुनना, फिर चैत्य-परिपाटी के बाद स्नात्र उत्सव के साथ विशेष प्रभु-भक्ति। ⑭ कार्तिक सुद ५ सौभाग्य पंचमी है। इस दिन उपवास पौषध, ज्ञानपचमी का देववंदन, 'नमो नाणस्स' की २० माला। ⑮ मिगसर सुद ११ मौन अग्यारस है, सो सारा दिन व रात मौन रख, उपवास, पौषध, मौन ११ के देववंदन, व उस दिन ९० भगवान की १५० कल्याणक की १५० माला गिननी। ⑯ मिगसरवद १० (पो व १०)पार्श्वनाथ प्रभु का जन्म कल्याणक है,उस दिन एकासन,अगर आयंबिल कर पार्श्वप्रभु की स्नात्रादि से भक्ति तथा त्रिकाल देववंदन और 'ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथ अर्हते नम' की २० माला गिननी। ⑰ पोसवद१३ मेरुतेरस है(मह। व १३)इस युग के प्रथम धर्मप्रवर्तक श्री ऋषभदेव प्रभु का मोक्ष-गमन दिन है। यहा उपवास कर ५ मेरु की रचना तथा घी के दीपक कर 'श्री ऋषभदेव पारंगताय नम' की २० माला गिनी जाती है। ⑱ फागुन वद ८ ऋषभदेव प्रभु का जन्म और दीक्षा कल्याणक का दिवस है। यहा आगे के दिवस से छट्ठ या अट्ठम कर वर्षीतप शुरू किया जाता है। इसमे एकातरे उपवास, बियासना सतत चलते है। बीच में चौदस आवे वहा उपवास ही करना पडता है चोमासी को छट्ठ। यह तप सतत करते २ दूसरे वर्ष के वै सु २ तक चलता है। वैसाख सुद ३ अक्षय तृतीया के दिन मात्र गन्ने के रस से पारना किया जाता है। ऋषभदेव भगवान ने तो लगातार केवल चौविहार उपवास लगभग ४०० किये थे, और श्रेयास कुमार ने वै सु ३ को पारना कराया था इसका यह सूचक है।

● वैशाख सु. ११ महावीर प्रभु ने पावापुरी में शासन की स्थापना की। गणधर दीक्षा, द्वादशांगी आगम रचना और चतुर्विध संघ की रचना इस दिन हुई है। इसकी स्मरण रूप में खास समूह उपासना होनी चाहिए। ● दिवाली को प्रभु महावीर देव ने पूर्व दिन सुबह से धर्मदेशना शुरु की थी। वह लगातार दिवाली की पिछली रात तक चली। देशना संपूर्ण प्रभु निर्वाण पधारे। लोगों ने भाव-दीपक जाने से उसकी स्मृतिरूप दीप जलाये। इससे दिवाली पर्व चला। निर्वाण के बाद प्रभात में गौतमस्वामीजी को केवलज्ञान हुआ। खास करके दिवाली की रात को पहले "श्री महावीरस्वामिसर्वज्ञाय नमः" की २ माला पिछली रात को वीर निर्वाण का देववंदन व "श्री महावीरस्वामी पारंगताय नमः" की २ माला बाद में गौतमस्वामीजी का देववंदन व "श्री गौतमस्वामिसर्वज्ञाय नमः" की माला गिननी।

● महावीर भगवान के पांच कल्याणक — इनमें विशेष करके चरमोत्सव (पुष्पक) प्रभु-गुणगान पूजा-भावना और तप के साथ २०-२० माला गिननी। तप में क्रमशः —

कार्तिक वद १ दीक्षा कल्याणक "श्री महावीरस्वामिनाथाय नमः।
चैत्र सुद १३ जन्म अर्हते नमः।
वैशाख सुद १ केवलज्ञान सर्वज्ञाय नमः।
आषाढ सुद ६ च्यवन परमेष्ठिने नमः।
दिवाली पर निर्वाण पारंगताय नमः।"

चौबीसों तीर्थंकर भगवान के पांच कल्याणक दिवसों की तप जप-जिनभक्ति आदि आराधना करने से महान् लाभ होता है। तप में एक ही दिन १, २, ३, ४ या ५ कल्याणक हो तो क्रमशः एकासन नीवी आयंबिल उपवास और उपवास सहित एकासन करना। प्रभु के चरित्र पढ़ने अरिहंत पद आराधनार्थ १२ लोगस्स का कायोत्सर्ग,

१२ खमा०, १२ साथिये, त्रिकाल देववंदन, वगैरह करना। सब शक्य न हो तो कुछ कम, अंत में उन ५ कल्याणकों की १-१ माला गिननी व पंचकल्याणक की स्मृति करनी।

(५) ६ अट्ठाई—कार्तिक, फागुन, अषाढ शुक्ल ७ से १५ तक, २ अट्ठाइ चैत्र और आसो सुद ७ से १५ तक, शाश्वती ओली में और १ अट्ठाइ पर्युषण की भा कृ १२ से भा सु ४ तक। इस तरह छः अट्ठाइ-पर्व का आराधन करना।

(६) शाश्वती ओली में खास करके नवपद (पंच परमेष्ठी + दर्शन-ज्ञान चारित्र-तप) की आराधना की जाती है। एक २ दिन को एक २ पद। उसमें नौ दिनों में आयंबिल करने का होता है, व उन २ पदों की २० २० माला गिननी, पद के गुणों की संख्या प्रमाण लोगस्स का कायोत्सर्ग-प्रदक्षिणा-खमासमण और साथिये करने, तो मंदिर में तो चैत्यवंदन करने का होता है।

(७) पर्युषणामें —अमारी प्रवर्तन (जीवों को अभयदान) साधर्मिक वात्सल्य, कल्पसूत्र का श्रवण, व साथ ही अट्ठम का तप, सर्व जीवों की क्षमा याचना, व चैत्य परिपाटी, और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण ये खास करने चाहिये।

★ २४ चातुर्मासिक-वार्षिक-जन्म कर्तव्य ★

श्राद्धविधि शास्त्र मे श्रावक द्वारा करने योग्य चातुर्मासिक, वार्षिक एवं जन्मभर के कर्तव्यो का उल्लेख है —

चातुर्मासिक कर्तव्यः—

श्रावक को आषाढी चातुर्मास मे विशेष प्रकार की धार्मिक आराधना करनी चाहिये। इसके दो हेतु है, प्रथमत वर्षा ऋतु होने से जीवोत्पत्ति तथा विकार संभव विशेष प्रकार के होते है, अत जीव-

तप और विकार-निग्रह का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। धन्धा-व्यापार प्रायः मंद होते हैं, तथा मुनिराजों का स्थिर वास होता है, अत धर्म करने के लिए उपयुक्त विशेष अवसर को सफल बनाना आवश्यक है। इसलिए श्रावक को चातुर्मास में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार की शुद्धि-वृद्धि के लिए अनेक प्रकार के नियम ग्रहण करना होता है। इनमें लिये हुए व्रतों में संक्षेप कर लिए न हों तो नव नियम लेना जैसे —

दो या तीन काल जिन पूजा, बृहत् देववंदन, स्नात्र महोत्सव तथा ज्ञानोपार्जन-पठन-पाठन करना, उबाला हुआ पानी पीना, सचित्त वस्तु का सर्वथा त्याग आदि। दीवार-स्तम्भ-खाट-चौकी की व तेल या पानी आदि के बर्तन कोयला छाने आदि सर्व वस्तुओं में काई, फूग इयल वनस्पति आदि जीव उत्पन्न न हों इसके लिए चूने राख आदि का उपयोग करना। पानी को दिन में दो या तीन बार छानना। चूल्हे, चक्की के स्थान ऊपर तथा खाटी पर बिछौने के, सोने के स्थान करने के तथा भोजन के स्थान पर मंदिर और पोषधशाले में इस प्रकार दस स्थानों पर चंदरवा बांधना। ब्रह्मचर्य का पालन करना। और अन्य ग्राम जाने का त्याग। लहसुन मूल आदि का त्याग। खुदाई रंगाई गाड़ी चलाना आदि पाप काम बंद करना। पत्ता भाजी आदि सूखे साग, भाजी के साग, नागरबेल के पान, छुहारे (खारिक), खजूर आदि का त्याग करना पन्द्रह कर्मादान और बहुत आरम्भवाले कठोर कर्मों का त्याग करना। स्नान करना, तेल मालिश करना आदि में भी परिमाण निश्चित करना। देशावकाशिक सामायिक और पौषध इन तीन की वृद्धि करना। यथाशक्ति उपधान तप संसार-तारक तप उपवास आदि तपश्चर्या विविध प्रकार से करनी। रात्रि में चौविहार, दुःखीजनों की सहायता आदि चातुर्मासिक कर्तव्यों का पालन करना आवश्यक है।

(२) वार्षिक कर्तव्य ११:—

१ संघपूजा २ साधर्मिक भक्ति	३ यात्रात्रिक ४ स्नात्र	५ देवद्रव्य-वृद्धि ६ महापूजा	७ धर्मजागरिका ८ श्रुतपूजा	९ उद्यापन १० प्रभावना ११ शुद्धि।

ये ग्यारह कर्तव्य श्रावक को प्रतिवर्ष करने चाहिए। इनमें रथयात्रादि कितने एक कार्य यदि मात्र अपनी ओर से न बने तब सामूहिक कार्य में अपना हिस्सा देकर करना।

(१) संघपूजा —संपत्ति अनुसार साधु-साध्वी की वस्त्र-पात्र आदि से और श्रावक श्राविका की पहिरामणी (भेट) आदि से भक्ति-सन्मान करना। (२) साधर्मिक-भक्ति —श्रावक श्राविका को आमंत्रण पूर्वक अपने घर लाकर स्वागत-विनयादि सहित सबहुमान विशिष्ट भोजन कराना। दुःखी श्रावक-श्राविका के दुःख धन आदि गुप्तता से देकर दूर करना। उनको धर्मकार्य की सुविधा कर देनी। अस्थिर को धर्म में स्थिर करना। चूक करने वाले को उदार दिल से क्षमा प्रदान कर चूक से बचाना, सन्मार्ग में प्रोत्साहित करना। सब श्रावक-श्राविका पर हार्दिक वात्सल्य रखना। (३) यात्रात्रिक —१ अष्टाह्निका यात्रा याने अट्ठाई महोत्सव, प्रभु की विशिष्ट अंगरचना -गीत-वाजिंत्र-आडंबर व उचित दान के साथ जिनभक्ति करनी। २ रथयात्रा-भगवान को रथ में विराजमान कर ठाठ से वर-घोड़ा (जुलूस) निकालना। ३ तीर्थयात्रा—शत्रुंजयादि तीर्थ की यात्रा करनी। (४) स्नात्रमहोत्सव —रोज, शक्य न हो तो पर्वदिन, या माह के प्रारम्भ दिन अथवा वर्ष में एक बार बड़े ठाठ से प्रभु का स्नात्र महोत्सव मनाना। (५) देवद्रव्यवृद्धि —उछरामणी (बोली,-चढावा) के द्वारा तथा प्रतिमाजी के आभूषण दान, भंडार में द्रव्यार्पण, इत्यादि द्वारा देवद्रव्य की वृद्धि करना। (६) महापूजा —प्रभु

की एक बार भी विशिष्ट अंगरचना व मंदिर श्रृंगार करना। ○ (७) धर्म-जागरिका:—प्रसव के बाद गुरुनिर्णयादि के प्रसंग पर रात्रि में धार्मिक गीतगानादि द्वारा जागरण। ○ (८) श्रुत पूजा—शास्त्र लिखाने की पूजा-उत्सव शास्त्र लिखवाने आदि। ○ (९) उद्यापन—नवकारजी बीसस्थानक आदि तप की पूर्णाहुति आदि निमित्त ज्ञान-दर्शन चारित्र के उपकरणों का समारोह के साथ समर्पण। ○ (१०) तीर्थप्रभावना—गुरु के भव्य प्रवेशोत्सवादि द्वारा लोगों में जिन शासन की प्रभावना। ○ (११) शुद्धि—सामान्यतः प्रतिसमय, प्रतिपाक्षिक या अन्ततः वर्ष में एक बार पापों की शुद्धि करनी अर्थात् गुरु समक्ष बालभाव से उद्वेग के साथ पापों की आलोचना कर प्रायश्चित्त मांग लेना व उसको वहन करना।

(२) जन्म-कर्तव्य और ११ पडिमा —

गृहस्थ श्रावक के लिए जीवन में कम से कम एक बार निम्न कर्तव्य आचरणीय हैं:—○ (१) जिनमंदिर निर्माण करना। उसमें द्रव्य-शुद्धि (न्यायोपार्जित द्रव्य), भूमिशुद्धि, शुद्ध सामग्री, मजदूरों के साथ प्रामाणिक व्यवहार, शुद्ध आशय और जीवजयणा का खास रखना। ○ (२-३) विधिपूर्वक जिनप्रतिमा का निर्माण व प्रतिष्ठापन। ○ (४) पुत्रादि को आडम्बर पूर्वक दीक्षा दिलानी। ○ (५) साधु महाराज के गणि-पंन्यास आचार्य पद का उत्सव करना। ○ (६) शास्त्र लिखवाने शास्त्र की वाचना करवानी। ○ (७) पौषधशाला निर्माण करनी। ○ (८–१८) श्रावक की ग्यारह पडिमा (प्रतिमा = अभिग्रह विशेष) वहन करनी। इसमें क्रम सम्यक्त्वादि का ११ कठिन नियम पूर्वक पालन करना होता है—दर्शन व्रत-सामायिक-पौषध प्रतिमा (कायोत्सर्ग)—ब्रह्मचर्य—सचित्तत्याग—आरम्भत्याग—प्रेष्य(नौकर)त्याग—उद्दिष्ट(स्वनिमित्त किए आहारादि)त्याग—श्रमणभूत—प्रतिमा। यह प्रत्येक क्रमशः पहली प्रतिमा एक मास, दूसरी दो मास, तीसरी

तीन मास, यावत् ग्यारवी ग्यारह मास तक आराधने की है। कार्तिकसेठ ने सो बार ११ प्रतिमा का वहन किया था।

२५ साधु-धर्म : साध्वाचार

अच्छी धर्म साधना करने के मूल में क्या है? यही कि धर्मात्मा ससार के जन्म-मरण, ईष्ट-वियोग, अनिष्ट—सयोग आधि-व्याधि-उपाधि और कर्म की भयंकर गुलामी पर उकता कर यहा से मुक्त हो मोक्ष पाने की तीव्र इच्छा वाला है। यह उकतापन ही वैराग्य है। वैराग्य होने पर भी मोह की परवशता और कम ताकत होने से घरवास रख कर धर्म साधना करता है, परन्तु घरवास में रोज के जीवन में होते हुए षट्काय (पूर्वोक्त पृथ्वीकाय से त्रसकाय तक) जीवों का सहार तथा १७-पापस्थानक का सेवन इसे खूब उद्वेगकारी होता है। अत वैराग्य वृद्धि और वीर्योल्लास के प्रयत्न मे रहता है। इसके बढ़ने से घरवास-कुटुम्ब-परिवार-माल-मिल्कत और आरम समारभ के जीवन से अत्यन्त विरक्त होकर उसका त्याग कर देता है, और योग्य सद्गुरु के चरणों में अपना जीवन अर्पित कर देता है, अहिंसा सयम और तप का कठोर जीवन जीने को तैयार रहता है। गुरु भी इसे परीक्षा पूर्वक सच्चा इच्छुक देख कर श्री अरिहंत परमात्मा की साक्षी में मुनि-दीक्षा दे कर जीवनभर के सावद्य व्यापार (पापप्रवृत्ति) के त्यागरूप सामायिक की प्रतिज्ञा कराते हैं। अब इसके पहले का कुछ भी याद नहीं आवे इसलिए इसका नाम भी नया स्थापित करते हैं। यह छोटी दीक्षा कही जाती है।

इसके बाद उसे साध्वाचार और षड्जीवनिकाय की रक्षा की समझ तथा शिक्षा देते हैं, तथा तप के साथ सूत्र के योगोद्वहन कराते हैं, फिर योग्य दिखते उसे हिंसादि पाप मन-वचन-काया से

करें नहीं करणु नहीं और अनुमोदन नहीं करूं-ऐसी त्रिवि
त्रिविध प्रतिज्ञा कराते हैं। इन अहिंसादि महाव्रतों का स्वीकार क
दीक्षा कहलाती है।

साधु की दिनचर्या—वे रात्रि का अन्तिम प्रहर शुरू होते
निद्रा त्याग पंच परमेष्ठी-स्मरण आत्म निरीक्षण तथा गुरु-चरणों
नमस्कार करता है। फिर कुस्वप्न शुद्धि का कायोत्सर्ग करने पूर्व
चैत्यवंदन करके स्वाध्याय ध्यान करते हैं। अन्त में प्रतिक्रमण कर
वस्त्र रजोहरणादि की प्रतिलेखना करते हैं इतने में सूर्योदय होता है
फिर सूत्रपोरिसी में सूत्र अध्ययन कर १ घड़ी दिन चढ़ने पर पा
प्रतिलेखना करते हैं बाद में मन्दिर-दर्शन चैत्यवंदन करके अर्थ
पोरिसी में सूत्रार्थ का अध्ययन करते हैं। गांव में भिक्षा के अवसर
पर गोचरी (गाय किसी को दुःख न पहुँचाती हुई घास चरे उस तरह
भिक्षा) लेने के लिये जाते हैं। इसमें ४२ दोष त्याग कर अनेक
भिन्न २ घरों से भिक्षा ला कर गुरु को दिखा कर गोचरी लेने की
विगत पेश करते हैं। फिर पच्चक्खाण पार कर स्वाध्याय ध्यान करके
आचार्य बाल ग्लान तपस्वी साधुवर्ग आदि की भक्ति कर आहार अ
राग द्वेषादि पांच दोष त्याग कर आहार करते हैं। फिर गांव के
बाहर स्थंडिल (निर्जीव एकांत भूमि) शौचादि जाकर आने पर तीसरे
प्रहर के अन्त में वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना करते हैं। फिर चौथे
प्रहर स्वाध्याय कर गुरुवंदन पच्चक्खाण करके रात्रि के लघुनीति
के लिये बारह पड़े स्थंडिल निर्जीव जगह देख कर प्रतिक्रमण करते
हैं। उसके बाद गुरु की उपासना करके रात्रि के प्रथम प्रहर स्वा-
ध्याय करके संथारा-पोरिसी पढ़ कर शयन करते हैं।

(१) साधु-जीवन मे सब कार्य गुरु को पूछ कर ही करना होता है।
(२) बिमार मुनि की सेवा पर खास ध्यान रखना आवश्यक है।
उसके सिवाय (३) आचार्यादि की सेवा गुरु आदि की विनय भक्ति

करनी। (४) हर एक भूल गुरु के आगे वालभाव से प्रकट कर प्रायश्चित लेने का होता है। (५) शक्ति अनुसार विगई (दूध-दही आदि) का त्याग। (६) पर्वतिथि पर विशेप तप। (७) वर्ष में तीन या दो वार केश का हाथ से लोच (लुचना) (८) शेप काल में गाव २ विहार। (६) सूत्र-अर्थ का खूब २ पारायण आदि करने का होता है। (१०) परिग्रह और स्त्रियों से विल्कुल अलग रहने का है, कोई परिचय बातचीत व निकटवास आदि सर्वथा नहीं करना चाहिए। (११) स्त्री, भोजन, देश या राज्य सबंधी बातें नहीं की जाये। संक्षेप में (१२) मन को आंतरभाव से बाह्य भाव में ले जाये एव दर्शन-ज्ञान-चारित्र की विराधक हो ऐसी कोई भी वाणी, विचार या वर्ताव करने का नहीं। इसीलिए गृहस्थ पुरुषों का भी खास ससर्ग रखने का नहीं।

साधु जीवन में इच्छाकारादि दस प्रकार की सामाचारी, दूसरे अनेक प्रकार के आचार, अष्ट प्रवचनमाता (समिति-गुप्ति), सवर, निर्जरा और पंचाचार का पालन करना होता है। सवर और निर्जरा का वर्णन आगे आयेगा, जो आराधक गृहस्थ को भी बहुत ही उपयोगी है। दशविध सामाचारी की व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार है,—

१० प्रकारकी सामाचारीः—

● (१) इच्छाकार —साधु अपना कार्य मुख्य रूप से स्वयं ही करें, परन्तु कारण वश दूसरे साधु के पास कराना पड़े तब पहले उसकी इच्छा पूछना। ● (२) मिथ्याकार - कुछ चूक हो जाए तो तुरन्त 'मिच्छामि दुक्कड'(मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो) कह देना। ●(३) तथाकार —गुरु कुछ भी आदेश करे कि तुरन्त 'तहत्ति' (तथास्तु) कहना। ● (४) आवश्यकी —मुकाम के बाहर गोचरी आदि के लिए जाते समय पहले लघुशङ्कादि निपटा कर 'आवस्सही' बोल करके निकलना। ● नैषेधिकी —मुकाम में प्रवेश करते समय

५ समिति —समिति याने सम्+इति = सम्यग् उपयोग (जागृति) वाली प्रवृत्ति। (१) ईर्यासमिति याने गमनागमन मे किसी जीव को व्यथा न हो इसलिये चित्त का उपयोग रखकर नीचे दृष्टि रखकर चलना। (२) भाषासमिति-याने खुले मुह और सावद्य (सपाप) तथा अप्रिय, अविचारित और स्वपर-अहितकारी न बोला जाये ऐसी वाणी। (३) एषणासमिति-याने मुनि को आहार-वस्त्र पात्र और वसति (वास, मुकाम) की गवेषणा में कहीं भी आधाकर्मिक (मुनि के लिये बनाया हुआ) आदि दोष न लगे, इस प्रकार की गवेषणा। (४) आदानभड-मात्र-निक्षेप समिति याने पात्र आदि लेने रखने में जीव न मरे इसके लिये निरीक्षण व प्रमार्जन का लक्ष्य। (५) पारिष्ठापनिकासमिति याने मल मूत्र आदि को निर्जीव निर्दोष जगह पर छोड़ने की सावधानी।

३ गुप्ति —गुप्ति याने सगोपन, सयमन, नियमन। यह तीन प्रकार से, मन, वचन, काया को अशुभ विषय मे जाते हुए रोककर शुभ विषय में जोड़ना। तात्पर्य, गुप्ति अकुशल योग का निरोध और कुशल योग का प्रवर्तन है।

२२ परीसह —परीसह याने जो रत्नत्रयी की निश्चलता और कर्म-निर्जरा के लिये असयम की इच्छा किये बिना समता-समाधि से सहन किया जाए। वह इसमे (१-१२) भूख, प्यास, ठंड, गर्मी, दश (मच्छरादि के), खड्डे-खोचर वाली वसति (मुकाम), आक्रोश, अनिष्टवचन, लात आदि का प्रहार, रोग, दर्भ का सथारा, शरीर पर मैल, अल्प जीर्ण वस्त्र। इन्हें कर्म क्षय में सहायक व सत्त्व-वर्धक मानकर दीन दु:खियें न बनकर सम्यक् सहन करना। (१३) घर २ भिक्षाचर्या में शर्म, गर्व, दीनता नहीं। (१४) आहारादि प्राप्त न हो

वा अविचलित चित्त वाले रह कर वधभूमि मानना। (१५) स्त्री अनिच्छा से दिखाई पड़े तो उस ओर आकर्षण आदि न करते हुए निर्विकार आत्मस्वरूप विचारना। (१६) निषद्या—श्मशानादि में कायोत्सर्ग आदि समय निर्भीक रहना। स्त्री-पशु-नपुंसक रहित स्थान का ही आश्रय करना। (१) अरति (उद्वेग) होवे ही धर्म धैर्य धारण करना। (१८-१९) आहारादि में सत्कार और वचन एवं मर्यादादि से पुरस्कार होने पर उस गर्व या स्पृहा न करनी। (२०—२१) अच्छी प्रज्ञा (बुद्धि) पर गर्विष्ठ न होना, तथा अति अज्ञान (पढ़ना न आवे तब) पर दीन नहीं बनना पर कर्म स्वरूप विचार कर ज्ञानाभ्यास शुरू रखें। (२२) अमुक तत्त्वांश या अदृश्य-भाव समझ में न आवे तो सर्वज्ञ प्रभु ने कहे हुए में मीनमेख फर्क नहीं है ऐसा सोचकर श्रद्धा रखनी।

१ यतिधर्म—क्षमा (सहिष्णुता) नम्रता=मृदुता सरलता, निर्लोभता, तप (बाह्य आभ्यन्तर) संयम (जीवदया व इन्द्रिय-निग्रह), सत्य (निरवद्य भाषा) शौच (मानसिक पवित्रता), अचौर्य धर्म सामग्री पर भी निर्मोहिता स्वरूप अपरिग्रह, और ब्रह्मचर्य इनका पूर्ण पालन करना।

१२ भावना—बारबार सोचकर आत्मा को जिससे भावित किया जावे वे भावना बारह हैं—(१) अनित्य—सर्व बाह्य व आभ्यन्तर संयोग व वैभव है, नश्वर है इनका मोह क्या! (२) अशरण—भूखे सिंह के आगे हिरन की तरह पाप के उदय या परलोक-गमन के समय जीव को धन कुटुंब आदि कोई बचाने वाला नहीं अतः धर्म का ही आश्रय करना। (३) संसार—भवचक्र में माता पत्नी होती है पत्नी माता शत्रु मित्र व मित्र शत्रु बनता है। कैसा यह पद (विचित्र) संसार! इस पर ममता क्या! यहाँ जन्म

जरा, मृत्यु, रोग, शोक, वध, वधन, इष्ट अनिष्ट आदि दु:ख भरा ससार।' इस तरह वैराग्य बढाना। (४) एकत्व —मैं अकेला हूँ, अकेला जन्मता हूँ, अकेला मरता हूँ, अकेला ही रोगी व दु:खी होता हूँ। मेरे कर्म व कर्म-फल मेरे ही है। अत अब सावधान होकर राग द्वेष दूर कर नि:सग बनू। (५) अन्यत्व —अनित्य व ज्ञान-हीन प्रत्यक्ष शरीर अलग है, नित्य,सज्ञान, अदृश्य मैं आत्मा पूर्णतया अलग हूँ। धन, कुटुम्ब आदि मुझ से पूर्णतया अलग हैं। फिर इन सबकी ममता छोड दूँ। (६) अशुचित्व—यह शरीर कारण-वृद्धि-स्वरूप-कार्य सब में अशुचि है,-१ गंदे पदार्थ में पैदा हुआ, २ गदे से पालित हुआ, ३ वर्तमान स्वरूप भी भीतर सब गंदा है और ४ खान-पान विलेपन को गदा करने वाला है। इसका मोह छोड कर विषय-त्याग, तपस्या आदि से दमन करने योग्य है। (७) आश्रव—'जिस तरह नदी घास को, उसी तरह इंद्रियादि आश्रव जीवन को उन्मार्ग और दुर्गति में बहा ले जाते हैं। ये कितने २ कर्म बधाते हैं! इन्हे अब छोड़ू!' (८) सवर—'अहो! समिति-गुप्ति यतिधर्म आदि कितने सुदर सवर है आश्रवों के विरोधी है। इन्हें सेव कर कर्म बंधन से बचू।' (९) निर्जरा – पराधीनता व अनिच्छा से सहीजाती पीडा से बहुत से कर्म नष्ट नहीं होते हैं, जब कि बाह्य-आभ्यंतर तप से ये खत्म होते हैं। इस अलौकिक तप का मैं सेवन करू। (१०)लोकस्वभाव—भावना में जीव पुद्‌गलों आदि से व्याप्त लोक का स्वरूप सोचना, लोक के भाव, उत्पत्ति-स्थिति-नाश आदि विचार २ कर तत्त्वज्ञान और वैराग्य को निर्मल करें। (११) बोधि-दुर्लभ—'अहो! चारों गति में भटकते एव अनेक दुखों में डूबते हुए और अज्ञान आदि से पीडित जीवों को बोधि याने जैन धर्म की प्राप्ति कितनी अतिदुर्लभ है! यह बोधि मुझे मिल गई है तो मैं अब प्रमाद नहीं करू।'

(१२) धर्मस्वाख्यात—'अहो ! सर्वज्ञ अरिहंत भगवान ने कितना अति सुन्दर श्रुत-धर्म और चारित्रधर्म फरमाया ! अतः इसमें खूब १ उपयोग भाव स्थिर होवे।'

५ चारित्र — (१) सामायिक—प्रतिज्ञा पूर्वक सर्व सावद्य प्रवृत्ति का जीवन भर त्याग और पंचाचार पालन द्वारा समभाव में रमणता। (२) छेदोपस्थापनीय—छेदे हुए अंग की तरह दूषित पूर्व चारित्र-पर्याय के छेद पूर्वक अहिंसादि महाव्रत में स्थापना महाव्रतारोपण। (३) परिहारविशुद्धि—नौ साधु द्वारा तीन विभाग में १८ मास तक वहन करते हुए परिहार नामक के तप में पालन किया जाता उत्कृष्ट चारित्र। (४) सूक्ष्मसंपराय—१० वें गुणस्थानक के अंतिम अवस्था वाला चारित्र। (५) यथाख्यात—वीतराग महर्षि का चारित्र।

★ पंचाचार ★

साधु जीवन में जिस तरह अहिंसादि महाव्रत ये निवृत्तिमार्ग है उसी तरह ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति रक्षा और वृद्धि के लिये पंचाचार का पालन-रूप प्रवृत्ति मार्ग है। वे इस प्रकार,—ज्ञानाचार, दर्शनाचार चारित्राचार तपाचार और वीर्याचार।

१ ज्ञानाचार के ८ प्रकार—(१)काल—दो संध्या, मध्याह्न, मध्यरात्रि अस्वाध्याय के समय छोड़कर योग्य काल में पढ़ना पढ़ाना। (२)विनय—गुरु ज्ञानी व ज्ञान के साधनों का विनय करना। (३) बहुमान—गुरु आदि पर मन में अत्यंत मान रखना। (४) उपधान—तप आदि द्वारा सूत्र के योगोद्वहन करने। (५) अनिह्नव—ज्ञानदाता व ज्ञान का अपलाप न करना। (६-७-८) व्यंजन, अर्थ व दोनों—

सूत्र के अक्षर-पद-आलापक, इसका अर्थ-भावार्थ-तात्पर्यार्थ और सूत्र अर्थ दोनों यथास्थित शुद्ध और स्पष्ट रूप से पढने।

२ दर्शनाचार —

यह आठ प्रकार—(१) नि शकित—जिनोक्त वचन लेश भी शका रखे बिना मानने। (२) नि काक्षित— मिथ्या धर्म प्रति जरा भी आकर्षित नहीं होना। (३) निर्विचिकित्सा—धर्मक्रिया के फल पर लेश भी सदेह न करते हुए धर्मक्रिया करनी। (४) अमूढदृष्टि—मिथ्या-दृष्टि के चमत्कार, पूजा, प्रभावना देख मूढ न बनना, पर इस तरह विचारना-कि जहा मूल का ठिकाना नहीं, उसकी क्या किमत ? (५) उपबृंहणा—सम्यग्दृष्टि आदि के सम्यग् दर्शन आदि धर्म की प्रशसा, प्रोत्साहन करने। (६) स्थिरिकरण—धर्म में अस्थिर होने वाले को तन- मन-धन से सहायता कर स्थिर करने। (७) वात्सल्य—सह-धार्मिक पर माता या बंधु की तरह प्रेम रखना। (८) प्रभावना—जैन धर्म की अन्य लोगों में प्रभावना, प्रशसा हो ऐसे सुकृत करने।

३ चारित्राचार—के ८ प्रकार-पाच समिति और तीन गुप्ति का पालन।

४ तपाचार—के १२ प्रकार-६ बाह्य तप, ६ आभ्यन्तर तप। इसका विवरण आगे निर्जरा तत्त्व मे आता है।

५ वीर्याचार—के ३६ प्रकार-ज्ञानाचारादि चारों के ८+८+८+१२=३६ भेदों के पालन में मन, वचन, काया की शक्ति लेश भी नहीं छिपाते हुए भरपूर उत्साह उछरग की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ आत्मवीर्य को कार्यान्वित करना।

चियासण, चौविहार, तिविहार, अभिग्रह आदि से हो सके। ● (२) ऊनोदरिका —भोजन के समय दो-पाच ग्रास जितना कम खाने में आये इतना त्याग भी तपस्या है। ● (३) वृत्तिसक्षेप —भोजन में उपयोग लाने के द्रव्यों (चीजों) का सकोच रखने में आवे कि जैसे 'इतनी से अधिक या अमुक वस्तु नहीं खाऊं।' ● (४) रसत्याग – दूध-दही आदि विगइ अमुक या सब के उपयोग का त्याग। ● (५) कायक्लेश —केश का लोच, उग्र विहार, परीसह, उपसर्ग आदि कष्ट सहने। (उपसर्ग = देव, मनुष्य या तिर्यंच से किये जाते उपद्रव) ● (६) सलीनता —शरीर के अवयव और इंद्रिय तथा मन की असत् प्रवृत्ति रोक कर उन्हें अकुश में रखना ये बाह्य तप के छ: प्रकार हुए।

आभ्यन्तर तप के छ प्रकार का स्वरूप इस तरह है।

१. प्रायश्चित्त के १० प्रकारः—

प्राय चित्त को शुद्ध करने वाले व कर्म क्षय करने वाले आलोचना आदि ये १० प्रकार के प्रायश्चित्त हैं, (१) ● आलोचना — जिसमें गुरु के आगे अपने पाप या करने की सोची हुई प्रवृत्ति प्रगट करनी। (२) प्रतिक्रमण —पाप का पश्चात्ताप पूर्वक 'मिथ्या दुष्कृत' कर पाप से पीछे हटना। (३) उभय –आलोचना सहित प्रतिक्रमण। (४) विवेक —अनावश्यक या अकल्प्य आहार-उपकरण का त्याग करना। (५) व्युत्सर्ग —सूत्राध्ययन-विधि या प्रतिक्रमण-विधि में कायोत्सर्ग करना। (६) तप —पाप के प्रायश्चित रूप में गुरुद्वारा कहे हुए उपवास आदि तप। (७) छेद —विशेष अतिचार (व्रत-स्खलना) की शुद्धि के लिए चारित्र पर्याय में से छेद किया जाए। (८) मूल —अनाचार के सेवन के कारण मूल से सब चारित्रपर्याय का उच्छेदन कर फिर से महाव्रतारोपण करने में आवे। (९) अनव-

स्थाप्य—जिसमें गच्छ के साथ की बातचीत तक व्यवहार बंद कराक
अमुक समय गच्छ में ही विशिष्ट मर्यादाबद्ध रखे जावे। (१
पारांचित —जिसमें गच्छ बाहर मुनिवेश बिना अमुक समय सम
में ही रखा जावे। ये १ प्रायश्चित हुए।

(२) विनय—

बाह्य सेवा रूप भक्ति, आंतर प्रीति रूप बहुमान, प्रशंसा, निंदा का प्रतिकार और आशातना-त्याग ऐसे सामान्य रूप से पांच तरह विनय करने में आवे यह भी तप है। यह विनय ज्ञान-दर्शन-चारित्र का मन-वचन-काययोग का और लोकोपचार (व्यवहार) विनय इन सात प्रकार से है। विशेष विनय रूप से ● १. ज्ञानविनय में—ज्ञान ज्ञानी की (१) भक्ति (२) बहुमान (३) सर्वज्ञकथित पदार्थों का सम्यक् भावन (४) योग-उपधान आदि ज्ञानाचारों का पालन करते हुये ज्ञानग्रहण (५) अभ्यास ये पांच प्रकार हैं

● २. दर्शन विनय में—सम्यग् दर्शन गुण से अधिक व अनाशातना करनी है (१) शुश्रूषा विनय के दस प्रकार:—(१) सत्कार ('नमस्कार आइए पधारिये'), (२) अभ्युत्थान (आसन से खड़ा होना) (३) सन्मान (हाथ की वस्तु उठाकर के लेनी आदि), (४) आसनपरिग्रह (उनके आसन आदि संभाल लेने), (५) आसनप्रदान, (६) वंदना (७) अंजलि जोड़नी (८) आते समय सामने लेने जाना, (९) बैठे हो तब सेवा उपासना, व (१०) जाते समय साथ थोड़ी दूर जाना। ..(II) अनाशातना विनय के ४५ प्रकार—तीर्थंकर, धर्म आचार्य उपाध्याय, वय-श्रुत-पर्याय स्थविर कुल (एकआचार्य की संतति), गण (अनेक कुल समूह), संघ (अनेक गण समूह), सांभोगिक (जिनके साथ गोचरी आदि व्यवहार चलता हो ऐसे साधु), क्रिया ('परलोक है, आत्मा है' आदि श्रद्धान)' और मतिज्ञानादि ५ ज्ञान

तरह पद्रह की आशातना का त्याग, भक्ति-बहुमान, तथा सद्भूत गुणप्रशसा द्वारा यशोवृद्धि, कुल १५ × ३ = ४५ ।

● ३ चारित्र विनय में १५ प्रकार —पाचों प्रकार के चारित्र की श्रद्धा पालन व यथास्थित परूपणा ।

●४-५-६ त्रिविध योग-विनय में आचार्यादि के प्रति अशुभ वाणी-विचार-वर्ताव का त्याग और शुभ वाणी आदि का प्रवर्तन।

●७ लोकोपचार विनय –में गुरु आदि के प्रति लोक में प्रसिद्ध ऐसे विनय के ७ प्रकार –१ इनके पास रहना, (२) इनकी इच्छा का अनुसरण करना, (३) इनके उपकार का अच्छा बदला लौटाने का प्रयत्न रखना, (४) इनकी आहारादि से भक्ति करना किंतु यह भक्ति ज्ञानादि गुण निमित्त हो, (५) इनकी पीडा-तकलीफ का ध्यान रखना व उनके निवारण के लिये प्रयत्नशील रहना, (६) इनकी सेवा-भक्ति में उचित देश-काल का ख्याल रखना, व (७) उनको सर्व प्रकार से अनुकूल रहना ।

३. वैयावच्चः—

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर,तपस्वी,बिमार, शैक्षक (नूतन मुनि) साधर्मिक, कुल,गण, संघ, इन दश की सेवा सुश्रूषा करनी । यह दस प्रकार की वैयावच्च है ।

४. स्वाध्यायः—

स्वाध्याय का अर्थ ज्ञान-ध्यान में रमण करना है। इसके पाच प्रकार हैं; ● १ वाचना—सूत्र-अर्थ का अध्ययन-अध्यापन । ● २ पृच्छा—न समझा हुआ या शंकास्पद पूछना । ● ३. परावर्तना—पढे हुए सूत्र व अर्थ की पुनरावृत्ति करनी । ● ४. अनुप्रेक्षा—सूत्र अर्थ पर चिंतन करना । ●५ धर्मकथा—तात्त्विक चर्चा, विचारणा उपदेश ।

५ ध्यान—

ध्यान यानी एक वस्तु पर एकाग्र चित्त से चिंतन करना। यह दो प्रकार से (१) शुभ ध्यान (२) अशुभ ध्यान। इसमें अशुभ ध्यान तप नहीं है, कर्म नाशक नहीं है बल्कि कर्म का आस्रव है। शुभ-ध्यान तप है, अपूर्व कर्म नाश करता है प्रसंगवश अशुभ ध्यान का भी यहां विचार करेंगे जिससे इससे बचा जा सके।

अशुभध्यान के दो प्रकार—(१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान। इस प्रत्येक में चार २ प्रकार हैं—इन्हें चार पाये भी कहते हैं। आर्तध्यान में—१ इष्ट-संयोग—इष्ट किस तरह मिले व रहे जाय नहीं, इसका चिंतन। २. अनिष्ट वियोग—अनिष्ट कैसे हटे अगर अनिष्ट न आवे इसका चिंतन (३) वेदना—व्याधि के नाश व उसके उपचार का चिंतन। (४) निदान—यानी पौद्गलिक सुख की तीव्र तन्मय चिंतन।

रौद्रध्यान में १-२-३ हिंसा झूठ और चोरी (अभीष्ट सुख आदि) खातिर इनके में क्रूर चिंतन। ४ संरक्षणानुबंधी—धन कीर्ति आदि की रक्षा के लिये क्रूर चिंतन।

शुभध्यान के दो प्रकार—(१) धर्मध्यान (२) शुक्लध्यान।

धर्मध्यान के ४ प्रकार—(१) आज्ञा (२) अपाय (३) विपाक (४) संस्थान विचय। ● १ आज्ञा विचय—'जिनाज्ञा जिन-वचन कितने अद्भुत! लोकोत्तर सर्व जीव हितकर व अनंत कल्याण कारक हैं।' इसका चिंतन। ● २ अपाय-विचय-राग द्वेष,प्रमाद अज्ञान अविरति आदि से कैसे भयंकर अनर्थ होते हैं इसका चिंतन। ● ३. विपाक विचय—सुख दुःख में कैसे २ अपने ही शुभाशुभ कर्म के विपाक हैं इसका चिंतन। ४. संस्थान-विचय—१४

राजलोक का सस्थान, ऊर्ध्व-अधो-मध्यम लोक की विविध परिस्थिति का एकाग्रता से चिंतन।

शुक्ल ध्यान के चार प्रकार – (१) पृथक्त्व वितर्क सविचार, पृथक्त्व = अन्यान्य पदार्थो पर ध्यान होने से विविधता, वितर्क = १४ पूर्वगत श्रुत, विचार = पदार्थ, शब्द और त्रिविध योग में परस्पर सचरण,–इन तीन विशेषता वाला पृथक्त्व–वितर्क–सविचार शुक्ल-ध्यान कहलाता है। २ एकत्व–वितर्क–अविचार ध्यान। इसमें, एकत्व = अन्यान्य नहीं पर एक ही पदार्थ का आलंबन होता है, व अविचारी याने पूर्वोक्त विचार (सचरण) रहित होता है। ये दोनों प्रकार पूर्वधर महर्षि कर सकते हैं। ३ सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती-ध्यान याने मोक्ष जाते समय ससार को अत में स्थूल मन-वचन-काय योगों का एव सूक्ष्म वचनयोग–मनयोग का निरोध करने वाला, व जिसमे सूक्ष्म काययोग 'अप्रतिपाती' याने विनष्ट नहीं पर खडा है, ऐसी आत्म-प्रक्रिया। ४ व्युच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति ध्यान–याने जिसमे सूक्ष्म काययोग भी नष्ट हो गया है ऐसी, अंतिम अवस्था, यहा सर्व कर्म का नाश हो मोक्ष मिलता है।

:: धर्मध्यान के दस प्रकार ::

ध्यान प्रसग में विशेष रूप से ध्यान शतक मे उपरोक्त आर्त रौद्र ध्यान आदि चार प्रकार के ध्यान के अन्तर्गत हरएक पर १०-१२ विचारों के आलम्बन से सुदर प्रतिपादन करा हुआ है। श्री समतितर्क की टीका व शास्त्रवार्ता-टीका और अध्यात्मसार मे धर्मध्यान के निम्न १० प्रकार बताने में आये हैं —१ अपाय, २. उपाय, ३ जीव,

४ अजीव ५. विपाक ६ विराग ७. भव ८ संस्थान ९आज्ञा और १० हेतु-विचय है। क्रमश इस प्रकार ध्यान करना—

● (१) अपाय-विचय—'अहो! अशुभ मन वचन काया और इंद्रियों की विवेक प्रवृत्तियों तथा विरोध क्रोधादि के अशुभ विचार, वाणी, वर्ताव और इंद्रिय विषय के संपर्क से उत्पन्न होने वाले भयंकर अनर्थ मैं किस लिये सिर पर लूं! जैसे किसी को बड़ा राज्य मिला हो फिर भी भीख मांगने की मूर्खता करे उसी तरह मोक्ष मेरे निकट में होने पर भी संसार में भटकने की मूर्खता क्यों करूं?' ऐसी शुभ विचार-धारा से दुष्ट योगों के त्याग का मन परिणाम जाग्रत होता है। ● (२) उपाय विचय—अहो शुभ विचार-वाणी-वर्ताव का मैं कैसे विस्तार करूं जिससे मेरे आत्मा की मोक्ष-निकटता से रक्षा हो! इस संकल्प-धारा से शुभ प्रवृत्ति के स्वीकार की परिणति जाग्रत होती है। ● (३) जीव विचय में—जीव के असंख्य प्रदेश, अरूपी, निराकार (ज्ञान दर्शन) उपयोग अनादि काल से किये हुए कर्म भोगने आदि के स्वरूप का स्थिर चिंतन किया जाता है। यह पर अनादि छोड़ कर मात्र आत्मा पर ममत्व कराने में उपयोगी है। ● (४) अजीव-विचय में धर्म अधर्म आकाश काल व पुद्गलों की गतिसहायकता—स्थितिसहायकता—अवकाशदायकता—वर्तना—रूपरसादि गुण तथा अनंत पर्यायरूपता का चिंतन करना। इससे शोक, रोग व्याकुलता मिथ्यात्व पर की आदि आसक्ति देहात्मा-अभेदभ्रम आदि दूर होते हैं। ●(५) विपाक विचय में—कर्म के मूल व उत्तर प्रकृतियों के मधुर व कटुफल का विचार, मूल अरिहंत प्रभुजी समवसरणादि संपत्ति से लेकर नर्क की घोर वेदनाओं तक का शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न होने का विचार व कर्मों का चित्त पर एकछत्री साम्राज्य होने का विचार करना इससे कर्म-फल की आसक्ति दूर हो। ● (६) विराग-विचय में—'अहो यह कैसा असार पदार्थों का

शरीर की जो गंदे वीर्य रूधिर में से बना,मल-मूत्रादि अशुचि से भरा हुआ, शराब के घड़े की तरह इसमे जो डालो उसे अशुचि बनाने वाला, मिष्टान्न को विष्ठा, व पानी को तो क्या अमृत को भी पेशाब बनाने वाला है। ऐसा भी शरीर पुन सतत नौ द्वारों में से अशुचि बहाने वाला है। और वह विनश्वर-नाशवान है, स्वय सुरक्षा-हीन है, मेरी आत्मा का रक्षक नहीं, मृत्यु या रोग के आक्रमण के समय माता, पिता, भाई बहिन, पत्नी, पुत्र, पौत्र पौत्री, कोई भी बचा नहीं सकता। तो इसमें मनोहर कौन सी बात रही ? और शब्द, रूप, रस, आदि विषयों को देखे तो इसके भोग किंपाक फल खाने के समान परिणाम में कटु-कड़वे है, सहज में नष्ट होने वाले हैं, पराधीन हैं, व संतोषरूपी अमृतास्वाद के विरोधी हैं। सत्पुरुषों ने इन्हें ऐसा ही समझाया है। विषयों से प्राप्त सुख भी बालक को लार चाटने मे मिलते हुए दुग्धास्वाद के सुख के समान कल्पित ही हैं। विवेकी को इसमें आस्था नहीं होती। विरति ही श्रेयस्कर है। घरवास तो सुलगी हुई आग के समान है, जिसमें जाज्वल्यमान इद्रियें पुण्य रूपी काष्ठ को जला देती हैं और अज्ञान-परपराके धुए को फैलाती हैं। इस आग को धर्म मेघ ही बुझा सकता है, सो धर्म में ही प्रयत्न करना चाहिये ।' इत्यादि राग के कारणों में कल्याण विरोध होने का चिंतन करना चाहिये। इससे परम आनन्द का अनुभव होता है। ● (७) भव-विचय में –'अहो कैसा दु खद यह संसार कि जहा स्वकृत कार्य का फल भोगने के लिये जन्म लेना पडता है। अरघट की घड़ी की तरह मल-मूत्रादि अशुचि भरे माता के उदर के भीतर में कई गमनागमन करने पडते हैं। और स्वकृत दुष्कर्म के भोगने में कोई सहाय करता नहीं। धिक्कार है ऐसे ससार-भ्रमण को। ऐसे चिंतन सत्प्रवृत्ति और ससार-खेद उत्पन्न करते हैं। ● (८) सस्थान-विचय में १४ राजलोक की व्यवस्था का चिंतन करना चाहिये-इसमें अधोलोक अधोमुख वाल्टी

आचार कहे हैं ? जैसे, नमिति-स्तुति आदि पंचाचार। इनमें लेशमात्र हिंसादि नहीं है और तप ध्यानादि विधि पालन की अनुकूलता है। ताप-परीक्षा के लिये यह देखना कि इसमें विधि निषेध और आचार के अनुकूल तत्त्वों की व्यवस्था है ? जैसे अनेकान्तवाद की शैली वाले तत्त्व, आत्मादि द्रव्यों की नित्यानित्यता, उत्पाद-व्यय ध्रौव्य, द्रव्य पर्याय के भेदाभेद, आदि तत्त्वव्यवस्था। इस चिंतन से विशिष्ट श्रद्धा की दृढ़ता पर वृद्धि होती है।

:: ध्यान के कतिपय मार्ग ::

बाकी ध्यान के प्राथमिक अभ्यास के लिये पहले एकाग्रता के अभ्यासार्थ विविध जाप का अभ्यास आवश्यक है, जैसे ●(१) अष्ट प्रतिहार्य युक्त अरिहंत प्रभु को मन के सामने और बाद में हृदय कमल की कर्णिका पर विराजमान करके ॐ ह्रीं अर्हं नमः यह मृत्यु जय जप जपते रहना चाहिए। इसमें यह ध्यान रहे कि बीच में जरा भी अन्य प्रकार का विचार आये बिना कितनी संख्या और समय तक जाप अखंड चलता है। इसमें बारबार अभ्यास से अखंड जाप का प्रमाण बढ़ता है। ● (२) हृदयकमल में भी श्री नवकार मंत्र के श्वेत रत्न में चमकते अक्षर पढ कर अखंड जाप बढाये। ● (३) आंखें बंद रख कर पहले मुंह से उच्चारण (भाष्यजाप), अभ्यास बढने के बाद मानसिक उच्चारण (उपांशुजाप) करके ऋषभदेव, अजितनाथ संभवनाथ, इस प्रकार चौबीस भगवान के नाम बोलने चाहिये। एक बार पूरा होने पर तुरंत दूसरी बार, तीसरी दफा। इस तरह बीच में दूसरा विचार न आये और बोलते समय अक्षर पढने का पूर्णतया लक्ष्य रहे, इस प्रकार आगे बढ़ते प्रमाण देखते

रहने का है कि नमस्कार ५८,२ ( ) मन्त्र कहते हैं। तीसरे प्रकार के मानसजाप के लिये आंतरिक उच्चारण तो नहीं पर भीतर में बिना बोले क्या १ अक्षर लिखे हुए हैं वे साफ दिखाई देते रहें इस प्रकार जाप करना चाहिये। अलबत्ता इसमें झटपटी काम की नहीं है। परन्तु एकाग्रता का ऐसा अभ्यास सिद्ध होना चाहिए कि जिससे ध्यान करने की शक्ति आयेगी। ● (४) एक प्रकार यह है कि अपने अंदर में कोई अपने परिचित स्वरवाले गुरुदेव आदि बोल रहे हैं। अपने को उनके ओष्ठ हिलते हुए दिखाई दे रहे हैं व उनके उच्चारण पर ठीक भीतर ही अपने कान दे कर शुद्ध अक्षर सुन रहे हैं। ● (५) दृष्टि के सामने जैसे अनंत समवसरण है और उन पर अनंत अरिहंत देव हैं और उनसे आगे अनंत आचार्य उपाध्याय व साधु हैं। मस्तक पर अनंत सिद्ध भगवान हैं यह धारणा करके फिर इन्हें क्रमानुसार नमस्कार कर रहे हैं इस प्रकार नमस्कार मंत्र का जाप हो सकता है। फिर आप में से ध्यान में जाने के लिये [illegible] आदि स्तुतियों तथा स्तवनों की एक २ गाथा लेकर उसके आधार पर उसके *भावों को दृष्टि के सामने चित्रात्मक रूप ला के उन के अरिहंत प्रभु* का ध्यान करना चाहिये। ●(६) चैत्यवन्दन तथा प्रतिक्रमण की क्रिया के समय भी प्रत्येक सूत्र की हरएक गाथा के भाव का चित्र जो कि पहले कल्पना में निश्चित किया हो उसे पढ़ते समय ही दृष्टि के सामने लाना चाहिए फिर उस पर हृदय के भाव तथा पढ़ते हुए उछलने चाहिए। उदाहरणार्थ 'जे अ अईआ *सिद्धा'*—गाथा पढ़ते वक्त बांयी ओर अनंत अतीत तीर्थंकर और दांयी ओर अनंत भावी तीर्थंकर एवं सामने वर्तमान में विचरते हुए बीस भगवान दृष्टि सामने आवें। उन्हें मन-वचन काया से नमस्कार करने का है। गाथा का अर्थ जहाँ ज्ञात न हो वहाँ मन के सामने बड़े कॉलम में ऊपर से नीच गाथा की चार पंक्ति लिखी हुई दिखाई दे उन्हें पढ़ना चाहिए।

यह पांचवें ध्यान-तप का विवरण हुआ।

६. कायोत्सर्ग (तप):—

कायोत्सर्ग यह उत्कृष्ट आभ्यंतर तप है। इसमें अन्नत्थ सूत्र बोल कर काया को स्थान से, वानी को मौन से, और मन को निश्चित किये हुए ध्यान से स्थिर करने में आता है। इसमें अखंड ध्यान उपरात प्रतिज्ञा पूर्वक काया और वानी को क्रिया रहित स्थिर किया जाता है, यह विशेषता है इससे अतराय आदि सब पाप कर्मो का अपूर्व क्षय होता है। कायोत्सर्ग यह एक प्रकार का व्युत्सर्ग (त्याग) है।

व्यत्सर्ग के दो प्रकार — (१) द्रव्य से व (२) भाव से। द्रव्य से व्युत्सर्ग के चार प्रकार ● (१) गण-त्याग = विशिष्ट ज्ञान, तपस्या आदि के लिये आचार्य की आज्ञा से एक समुदाय छोड़ कर दूसरे गच्छ में जाना, अथवा जिनकल्प आदि साधना के लिये गण को छोड कर जाना। ● देह-त्याग = कायोत्सर्ग, अतिम पादपोपगमन अनशन, या सजीव-निर्जीव का योग्य स्थल में त्याग। ● (३) उपधि-आहार-त्याग = सदोष व अधिक वस्त्र, पात्र तथा आहार का विधि अनुसार निर्जीव एकात स्थल में त्याग। ● (४) भाव-व्युत्सर्ग—कषाय, कर्म और संसार का त्याग।

●●

★ २८ मोक्ष-सत्पद आदि मार्गणा ★

यहा तक जीव-अजीव-पुण्य-पाप-आश्रव-बन्ध-संवर एव निर्जरा इस प्रकार आठ तत्त्वों की विचारणा हुई। अब नौवा मोक्षतत्त्व देखें। सर्व कर्मों के क्षय से प्रगट होने वाला आत्मा का सर्वथा शुद्ध स्वरूप यह मोक्ष है। यह शक्य है, क्योंकि जिन कारणों से संसार है, उनसे

विपरीत कारणों के आसेवन से संसार-बीजन का अंत भी आ सकता है। स्वर्ण व मिट्टी का मूलतः संयोग होने पर भी क्षारादि-प्रयोग से जैसे स्वर्ण सर्वथा शुद्ध हो सकता है, उसी तरह सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की आराधना से अनादि कर्म-संयोग का नाश करके आत्मा सर्वथा शुद्ध-सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकती है। मुक्त होने के बाद फिर कभी कर्म का संयोग नहीं होता। अतः आप अक्षय, अनंत अव्याबाध सुख अनंतज्ञान अनंतदर्शन और अनंतवीर्य इन चार अनंतों की नित्य स्थिति होती है। यों तो आठ कर्मों के नाश से मूल आठ गुण प्रगट होते हैं।

सत्पद-प्ररूपणादि—मोक्ष तथा अन्य तत्त्वों का सत्पदादि रीति से ६२ मार्गणा द्वारों में सविस्तार विचार (व्याख्यान) हो सकता है। (मार्गणा = वस्तु—विचार के लिए विषय Points) ● (१) सत्पद-प्ररूपणा यानी विद्यमान पद (नाम) वाली वस्तु की सत्ता को गति इन्द्रियाँ आदि मार्गणा द्वारों (स्थानों) से शोधना। प्ररूपणा = कथन या विचारणा। यथा क्या सम्यग्दर्शन सर्व गति में है? पृथ्वीकाय में है? काययोग में है?

(२) द्रव्यप्रमाण —वे वस्तु प्रमाण में कितनी हैं?

(३) क्षेत्र —कौनसी व कितने क्षेत्र में रही है?

(४) स्पर्शना —वस्तु के साथ कितने आकाश प्रदेश का स्पर्श है? जैसे परमाणु का क्षेत्र एक आकाशप्रदेश, स्पर्शना ७ आकाश-प्रदेश।

(५) काल —कितनी उसकी समय मर्यादा (स्थिति) है?

(६) अंतर — यह वस्तु फिर बनने के बीच कितना काल के अंतर (विरह) पड़ता है?

(७) भाग —यह वस्तु स्वजातीय की या परजातीय की अपेक्षा कितने भाग में है?

(८) भाव —औदयिक आदि पाच भाव में से कौन से भाव में वह वस्तु विद्यमान है ?

(६) अल्पबहुत्व —वस्तु के प्रकारों में परस्पर न्यूनाधिकता बतानी।

५ भाव –यहा 'भाव' याने वस्तु में रहते हुए परिणाम,ये पाच प्रकार के हैं। ● (१) औदयिक –जो कर्म के उदय से होता है, जैसे अज्ञान, निद्रा, गति, शरीर आदि। ● (२) पारिणामिक — अनादि का वैसा परिणाम, जैसे जीवत्व, भव्यत्व आदि। ● (३) औपशमिक —मोहनीय कर्म के उपशम से जो होता है, जैसे मोहोपशम से जन्य सम्यक्त्व और चारित्र। ● (४) क्षायोपशमिक –घाती कर्म के क्षयोपशम से जो होता है, जैसे ज्ञानावरण आदि कर्मो के क्षयोपशम-जन्य ज्ञान, दर्शन, क्षमा, दान आदि। ● (५) क्षायिक — कर्म के क्षय से जो होता है, जैसे केवलज्ञान, सिद्धत्व आदि।

मोक्ष शब्द यह शुद्ध (एक, असमास) और व्युत्पत्ति-सिद्ध पद है, सो मोक्ष सत्- विद्यमान है, पर दो पद वाले आकाश-पुष्प की तरह असत् नहीं है।

६२ मार्गणाद्वार:—

मार्गणा = शोधन करने के मुद्दे। मोक्ष आदि की विचारणा १४ मार्गणा द्वारों से होती है। उनके उत्तर भेद ६२ है। १४ मार्गणा — (१) गति ४, (२) इंद्रिय ५, (३) काय ६ पृथ्वीकायादि, (४) योग ३, (५) वेद ३, स्त्री, पु , नपु ० (६) कषाय ४, (७) ज्ञान अज्ञान ८, (८) संयम ७, (६) दर्शन ४, (१०) लेश्या ६, (११)भव्यत्व-अभव्यत्व २, (१२) सम्यक्त्व ६,(१३) संज्ञी-असंज्ञी २,(१४) आहारक-अनाहारक २, ७ सयम में सामायिकादि ५,देशविरति और अविरति हैं। ६ सम्यक्त्व में क्षायिक, क्षायोप० औपश० मिश्रमोह० सास्वादन, और मिथ्यात्व गिने जाते हैं। इस प्रकार कुल ६२ मार्गणा हैं।

मोक्ष मनुष्य ही पा सकता है, वे भी ४५ लाख योजन-प्रमाण ढाई द्वीप के मनुष्य-लोक में ही उत्पन्न होते हैं। मोक्ष पाये हुए जीवों का स्थान १४ राज-लोक के सिरे पर सिद्धशिला है। वह भी उतने ही माप की है। भरत ऐरवत में से तीसरे चौथे आरे में ही जन्म पाया हुआ और महाविदेह में सर्वकाल मोक्ष जा सकता है। यथाख्यात चारित्रवाला केवली ही मोक्ष पा सकता है। कोई सिद्धि पाने के बाद अधिक से अधिक छ माह में दूसरे आत्मा की सिद्धि अवश्य होती है। जितनी आत्मा सिद्धी को प्राप्त करती है उतने ही जीव अनादि निगोद में से बाहर निकल व्यवहार राशि में आती हैं। सहृत की अपेक्षा जन्म क्षेत्र में सिद्ध, उर्ध्व की अपेक्षा अधोलोक में, उसकी अपेक्षा तिर्छालोक में सिद्ध, व समुद्र की अपेक्षा द्वीपों में से असख्यगुण सिद्ध होते हैं। उत्स०–अवस० की अपेक्षा महाविदेह में से, (उत्स० की अपेक्षा अवस० में विशेषाधिक) तिर्यंच में से आकर बने हुए सिद्ध की अपेक्षा मनुष्यों में से आकर बने हुए सिद्ध, उनकी अपेक्षा नरक में से आकर बनें हुए सिद्ध, उनकी अपेक्षा देव में से आकर बनें हुए सिद्ध, अतीर्थसिद्ध की अपेक्षा तीर्थसिद्ध, असख्य गुण होते हैं।

चरमभव की अपेक्षा सिद्ध के १५ भेद—

१ कोई जिनसिद्ध (तीर्थंकर होकर सिद्ध) २. कोई (जिनेश्वर न हो ऐसे सख्यात गुण) अजिनसिद्ध, ३ कोई तीर्थ-सिद्ध (तीर्थ-स्थापना के बाद मोक्ष गये हुए), ४ कोई अतीर्थसिद्ध (जैसे मरूदेवा) ५ गृहस्थलिंगसिद्ध-(जो गृहस्थ वेश में केवलज्ञान पाये, भरतचक्री आदि) ६ अन्यलिंग सिद्ध (तापसादि वल्कलधारी)। (७) स्वलिंग-सिद्ध (साधु वेश में) ८, ९, १०, स्त्री, पुरुष, नपुसकलिंग में सिद्ध (नपु० गागेय) ११ प्रत्येकबुद्धसिद्ध (वैराग्य जनक निमित्त

पाकर विरागी व केवली बन करके) १२. स्वयंबुद्ध-सिद्ध (कर्मस्थिति कम होने से अपने आप ही बुद्ध, कपिल) १३ बुद्ध-बोधित-सिद्ध (गुरु से उपदेश पाकर), १४ एक-सिद्ध (एक समय में एक ही जीव सिद्ध) १५. अनेक सिद्ध।

पांचवें-छठे सिद्ध पर ध्यान रखना चाहिये कि पूर्व भव में उन्होंने चारित्र की खूब साधना की है, तभी तो यहां संस्कारानुबोध से गृहस्थ या अन्य वेष में केवलज्ञान होता है।

नौ तत्त्वों का प्रभाव

जीव अजीव आदि नौ तत्त्वों के ज्ञान से सम्यक्त्व-सम्यग्-दर्शन प्रकट होता है, इतना ही नहीं पर नौ तत्त्वों के विशेष स्वरूप को न जानता हुआ भी "वे ही तत्त्व सच्चे हैं" ऐसी मात्र से श्रद्धा करने वाला भी सम्यक्त्व प्राप्त करता है। राग द्वेष या अज्ञान के कारण झूठ बोला जाय पर यह कारण तो सर्वज्ञ में है ही नहीं अतः इनका कहा हुआ सब सच्चा ही है।

एक अंतमुहूर्त भी जिसे सम्यक्त्व ने स्पर्श किया हो वह संसार में अर्धपुद्गलपरावर्त काल से अधिक काल नहीं रहता। अधिक से अधिक इतने काल में मोक्ष अवश्य पाता है। अनंत काल चक्र = एक पुद्गल परावर्त। अनंत पुद्गल परावर्त = अतीत काल।

जैन दर्शन में जब भी प्रश्न होता है कि अब तक कितने जीव मोक्ष गये हैं? तब इसका उत्तर यह है कि एक निगोद में रहे हुए अनंतानंत जीवों का अनंतवें भाग जितनी संख्या मोक्ष में गये हुए जीवों की है।

२९ आत्मा का विकासक्रम : १४ गुणस्थानक

पूर्व आश्रय-तत्त्व में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद व योगरूप आश्रव बतलाये गए। वे सचमुच आत्मा के आभ्यन्तर दोष हैं, इसलिए आत्मा अवनत स्थिति में रहती है। वे ज्यों ज्यों कम होते रहते हैं त्यों त्यों सम्यक्त्वादि गुण प्रकट हो जाते हैं, और आत्मा गुणस्थानकों मे आगे आगे बढती है। जैन शासन मे चौदह गुणस्थानकों का योजना बताने में आई है, यह इस प्रकार —

१ मिथ्यात्व	५ देशविरति	१० सूक्ष्मसपराय
२ सास्वादन	६ (सर्वविरति)प्रमत्त	११ उपशातमोह
३ मिश्र	७ अप्रमत्त	१२ क्षीणमोह
४ अविरति-सम्यग्दृष्टि	८ अपूर्वकरण	१३ सयोगीकेवली
	९ अनिवृत्तिबादर	१४ अयोगीकेवली

१ मिथ्यात्व-गुणस्थानक —मिथ्यात्व याने अतत्त्वश्रद्धा तत्त्व अरुचि दोष रूप होने पर भी मिथ्यात्व-अवस्था को यहा पहला गुणस्थानक कहने में दो अपेक्षा हैं,(१) जीव तत्त्व की अति प्रारम्भिक अवस्था बतलानी है, एवं (२) मिथ्यात्व दोष कृश हुआ हो तब प्रकट होने वाले प्रारम्भिक गुणों की अवस्था सूचित करनी है। यहा पहली अपेक्षा सभी एकेन्द्रियों से लेकर असज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तक एव भवाभिनन्दी याने मात्र पुद्गलरसिक सज्ञी पचेन्द्रिय जीव गृहीत होते हैं। दूसरी अपेक्षा में वीतराग सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर भगवान के वचन की श्रद्धा न पाये हुए मोक्षाभिलाषी व ससारोद्विग्न मार्गानुसारी जीव तथा अहिंसा-सत्य आदि पाच यम एवं शौच-सतोष ईश्वरप्रणिधान-तप स्वाध्याय रूप पाच नियम वाले जीव गृहीत होते हैं।

२ सास्वादन-गुणस्थानक —यह पहले की अपेक्षा इतना विकाससंपन्न है कि इसमें मिथ्यात्व उदय में नहीं है। फिर भी यह

गुणस्थानक पहले गुणस्थानक से चढ़ कर प्राप्त नहीं होता किन्तु चौथे गुणस्थानक से गिरते हुए को प्राप्त होता है। यह इस प्रकार जब जीव सम्यक्त्व-अवस्था में शिथिल होता है व इसके अनंता-नुबन्धी कषाय उदय में आते हैं तब वे कषाय घातक होने से सम्य-क्त्व गुण नष्ट होता है और जब तक मिथ्यात्व उदय में नहीं आता, तब जीव गिर कर दूसरे सास्वादन गुणस्थानक में अल्प काल तक स्थिर रहता है। वमन किये हुए सम्यक्त्व के कुछ अंश का यहाँ आस्वादन करने से यह सास्वादन गुण कहा जाता है। अधिक में अधिक ६ आवलिका तक यहाँ जीव ठहरता है, (१ १६,७७,२१६ आवलिका = ४८ मिनट); क्यों कि अनन्तानुबन्धी कषाय का साथ मिथ्यात्व का शीघ्र उदय में जीव आता है जिससे जीव पहले गुणस्थानक में चला जाता है।

३ मिश्र-गुणस्थानक —जब पहला गुणस्थानक वाला जीव मिथ्यात्वमोहनीयकर्म व अनन्तानुबन्धी कषाय दोनों का उदय रोक कर मिश्रमोहनीय कर्म का वेदन करता है, या चौथे गुणस्थानक वाला जीव सम्यक्त्व खो कर मिश्रमोहनीय कर्म का वेदन करे तब वह तीसरा मिश्र गुणस्थानक प्राप्त करता है। मिश्र अर्थात् जिस प्रकार नालिकेर द्वीपवासी को नारियल का ही आहार होने से अन्न पर न राग रुचि न अरुचि इस प्रकार जैन धर्म तत्त्व पर रुचि अरुचि कुछ नहीं एवं मिथ्यातत्त्व पर भी रुचि नहीं किन्तु बीच की अवस्था, यह मिश्रता

४ अविरति-सम्यग्दृष्टि —जीव स्पष्ट रूप से मिथ्यात्व-अनन्तानु-बन्धी मिश्रमोह का उदय रोककर सम्यक्त्व गुण प्राप्त करता है परन्तु अविरति भाव नहीं तब इस गुणस्थानक को प्राप्त होता है। सम्यक्त्व तीन रीति से प्राप्त हो सकता है,-(१) मिथ्यात्व कर्म का बिल्कुल

उपशम किया जाए, अर्थात् विशिष्ट शुभ अध्यवसाय के बल पर अन्तर्मुहूर्त काल के उन मिथ्यात्व मोहनीय कर्मों को आगे पीछे उदयवश कर के इतना काल मिथ्यात्व मे सर्वथा उदयरहित किया जाए, तब उपशम-सम्यक्त्व प्राप्त होता है। (२) मिथ्यात्वकर्म-पुद्गलों का शुभाध्यवसाय वश संशोधित कर अशुद्ध व अर्धशुद्ध पुद्गलों का विपाक उदय स्थगित किया जाए और शुद्ध का वेदन किया जाए तब क्षयोपशम-सम्यक्त्व प्राप्त होता है। (३) समस्त शुद्ध-अर्धशुद्ध-अशुद्ध मिथ्यात्व कर्मपुद्गलों का, अनंतानुबन्धी कषायों के नाश पूर्वक, नाश किया जाए तब क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इन तीनों सम्यक्त्व में श्रद्धा तो एक मात्र जिन वचन जिनोक्त तत्त्व पर ही होती है। जिनोक्त तत्त्व में जीव अजीवादि नौ तत्त्व, सम्यग्दर्शनादि मोक्ष मार्ग तथा अरिहंतदेव-निर्ग्रन्थ मुनि गुरु-सर्वज्ञोक्त धर्म समाविष्ट है। यहा हिंसादि पापों के त्याग की प्रतिज्ञा याने विरति नहीं है इसलिए यह अविरति सम्यग्दृष्टि है।

५ देशविरति गुणस्थानक—सम्यक्त्व प्राप्त होने पर जैसी श्रद्धा हुई कि हिंसा झूठ आदि पाप अकरणीय है, त्याज्य है, इसी प्रकार अनंतानुबंधी कषायों के बाद अप्रत्याख्यानीय कषायों के निरोधवश हिंसादि पापों के आंशिक त्याग की प्रतिज्ञा की जाए तब यह आंशिक विरति याने देशविरति श्रावक का गुणस्थानक प्राप्त हुआ कहा जाता है।

६ प्रमत्त (सर्वविरति) गुणस्थानक—सम्यक्त्व के साथ वैराग्य भरपूर हो वीर्योल्लास बढ़ाते बढाते तीसरे प्रत्याख्यानावरणीय कषायों के निरोधवश हिंसादि पापों का सर्वथा सूक्ष्म रीति से त्याग प्रतिज्ञापूर्वक किया जाए तब सर्वविरति साधुपन प्राप्त हुआ कहा जाता है। यहा अभी प्रमाद वशता है। अत प्रमत्त अवस्था होने से इसे प्रमत्त गुणस्थानक कहते हैं।

इसलिए यह अनिवृत्ति बादर गुणस्थानक कहलाता है।'बादर'इस दृष्टि से कि अभी यहाँ स्थूल कषाय उदय में हैं।

१० सूक्ष्मसंपराय गुण०—उन स्थूल कषायों को उपशान्त या क्षीण कर के अन्न संपराय याने कषाय सूक्ष्म, उनमें भी मात्र लोभ (राग) सूक्ष्मकोटि का शेष रहे तभी यह गुण० प्राप्त होता है।

११ उपशान्तमोह गुण०—उपशम श्रेणि में बढते बढते उक्त सूक्ष्म लोभ को भी खण्डशः सर्वथा उपशान्त कर दे तभी यह गुणस्थानक प्राप्त होता है। मोहनीय कर्म उपशान्त किये गए इससे उनका तत्काल उदय सर्वथा स्थगित हुआ, लेकिन वे सत्ता में तो विद्यमान ही हैं इसलिए अन्तर्मुहूर्त काल में ही वे उदय प्राप्त हो जीव को निम्न गुणस्थानकों में घसीट ले जाते हैं, फलतः यहा मोह सर्वथा उपशान्त होने से जो वीतराग दशा एवं यथाख्यात चारित्र प्राप्त हुए थे वे लुप्त हो जाते हैं।

१२ क्षीणमोह गुण०—जिन्होंने मोहनीय कर्म का उपशम करते करते आगे बढ़ने का किया वे तो दसवें के अन्त में सर्वमोहोपशम कर ग्यारहवें गुणस्थानक में उपशान्त-मोहवीतराग होते हैं, परन्तु जिन्होंने पहले से मोह कर्मों की क्षपणा (क्षय) करने का किया, वे तो १० वें के अंत में सर्वमोह नाश करके १२ वें गुणस्थान में आरूढ हो क्षीणमोह वीतराग बनते हैं। अब भी यहां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अंतराय नामक घाती कर्मों का उदय चालू है, अतः वे सर्वज्ञ नहीं बने हैं।

१३ सयोगी केवली गुणस्थानक—बारहवें के अन्त में समस्त घाती कर्मों का नाश करने पर यह गुण० प्राप्त होता है। यहां केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो जाने से वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं।

इसमें वे लोक-अलोक के तीनों काल के समस्त भावों को प्रत्यक्ष देख रहे हैं। फिर भी यहाँ उपदेशदान विहारगमन आहारग्रहण आदि प्रवृत्ति याने वचनयोग-काययोग चालू हैं, इसलिए वे सयोगी कहे जाते हैं। ११-१२-१३ वें गुणस्थानकों में आस्रवों में से मात्र योग आस्रव शेष रहा है इसलिए मात्र शातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। तदनन्तर जब मोक्ष जाने की तैयारी हो तब १३ वें के अन्त में शुक्लध्यान के तीसरे-चौथे प्रकार द्वारा स्थूल-सूक्ष्म समस्त मन-वचन-काययोगों का सर्वथा निरोध कर देते हैं।

१४ अयोगी केवली गुण० — १३ वें के अन्त में जब सर्वथा योग निरोध हो जाता है तब अयोगी-गुणस्थानक प्राप्त होता है। यहाँ सूक्ष्म या बादर योग अल्प मात्र कम्पनशील थे वे योग सब निरोधवश स्थिर शैलेश-पर्वतराज मेरु की तरह निष्प्रकम्प हो जाते हैं। इसे शैलेशीकरण कहते हैं। यहाँ मात्र पाँच ह्रस्वाक्षर अ इ उ ऋ लृ के उच्चारण-काल जितना काल ठहरते हैं। इसमें समस्त अघाती कर्मों का नाश कर अन्त में सर्व कर्म रहित शुद्ध अनन्त ज्ञान सुखादिमय हो आत्मा मोक्ष पाती है। यह क्रम जब होता है मात्र एक ही समय में चौदह राजलोक के ऊपर सिद्धशिला पर आ कर अनन्त काल के लिए स्थिर होती है।

● ३० प्रमाण—जैनशास्त्र-विभाग ●

बोध के दो प्रकारः—

वस्तु का बोध दो तरह से होता है,-१ समग्र रूप से २ अश रूप से। आख खोल कर देखा 'यह घडा' यह घड़े का समग्र रूप से बोध हुआ। परंतु शहर से बाहर गए और याद आया कि 'घडा शहर मे रह गया' यह घड़े का अश रूप से बोध हुआ। अश रूप इसलिए कि घड़े में दूसरे अनेक अश है जैसे घड़ा घर में पडा है। वहा भी पाकशाला मे है यावत् अपने अवयवों मे रहा हुआ है। परतु यहा इन्हें लक्ष्य मे न लेते हुए अमुक दृष्टि रख कर बोध किया कि 'घड़ा शहर में रहा', यह अश रूप से बोध हुआ।

प्रमाण-नय —समग्र रूप से होने वाले बोध को 'सकलादेश' अर्थात् 'प्रमाण' कहते हैं, और अश रूप से होने वाले बोध को 'विकलादेश' अर्थात् 'नय' कहते हैं। प्रमाण व नय ज्ञान के ही दो प्रकार हैं। प्रमाणज्ञान समग्र रूप से होता है अत इसमे 'अमुक अपेक्षा से ऐसा है' यह नहीं होता। जिह्वा से शक्कर को मधुर जान ली या शास्त्र से निगोद में अनेक जीव होने का ज्ञान हुआ, इस बोध में कोई अपेक्षा नहीं आई, परतु 'घडा रामलाल का है', ऐसा जाना इसमें अपेक्षा यह है कि वह स्वामित्व की दृष्टि से या कर्तृत्व की दृष्टि से अथवा संग्रहकार की दृष्टि से अर्थात् घड़ा रामलाल नाम के मालिक का या निर्माता का या संग्राहक का है, इस भाव मे 'घडा रामलाल का है' यह ज्ञान हुआ। अपेक्षा रख कर होने वाला ज्ञान नय है।

प्रमाणज्ञान के दो प्रकार है —१ प्रत्यक्ष, व २ परोक्ष। प्रत्यक्ष याने 'अक्ष' (आत्मा) के 'प्रति' (साक्षात्), बाह्य साधन के बिना ही

धारणा मतिज्ञान हुआ। अवग्रह के भी दो प्रकार हैं। एक --'कुछ'-ऐसा भास व्यक्त होने के लिये पूर्व में पदार्थ का इंद्रिय के संपर्क में जुड़ना वह व्यंजनावग्रह, और दूसरा 'कुछ' ऐसे पदार्थ का भास होना वह अर्थावग्रह कहलाता है। सोते हुए मनुष्य को कितने ही समय तक उसके नाम के कई शब्द कान में आ टकराते हैं, बाद में उसे कुछ आवाज का भास होता है। वहां शब्द टकराने से अव्यक्त चेतना जाग्रत् हो रही है, इसलिये इसे भी व्यंजनावग्रह ज्ञान कहने में आता है। भींत पर भी शब्द टकराता है, फिर भी ऐसा कुछ भी नहीं होता। अतः प्राणी की इंद्रियों से टकराना इससे भिन्न है। यह संपर्क मात्र ही नहीं है, अपितु अव्यक्त ज्ञान है। यह व्यंजनावग्रह नेत्र और मन के सिवाय चार इंद्रियों को ही होता है, क्योंकि मन व चक्षु को अपने विषय का संपर्क स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। मात्र योग्य देश में आई हुई वस्तु को न छूकर भी नेत्र पकड़ लेते हैं उसी तरह मन भी विषय को छूए बिना ही चिंतन कर लेता है।

मतिज्ञान के पर्याय —मन से भविष्य का विचार हो उसे चिंता कहते हैं। भूत काल की याद आवे उसे स्मृति कहते हैं, वर्तमान का विचार आवे वह मति या संज्ञा। वर्तमान के साथ भूतकाल का अनुसंधान हो तो प्रत्यभिज्ञा, जैसे 'यह वही मनुष्य है'। अमुक हो तो अमुक होना ही चाहिये ऐसा विकल्प तर्क है, हेतु देख कर कल्पना हो वह अनुमान, जैसे नदी में प्रवाह देख कर ख्याल आता है कि 'ऊपर बरसात गिरा होगा'। दिखती या सुनी जाती वस्तु अमुक के बिना घटित नहीं है अतः अमुक की कल्पना हो वह अर्थापत्ति है, जैसे सशक्त कोई मनुष्य दिन को नहीं खाता है ऐसा जानकर ऐसा प्रतीत होता है कि 'वह रात्रि को जरूर भोजन करता होगा।' यह अर्थापत्ति है।

ते हैं। उनके श्रवण के साथ पूर्व जन्म की विशिष्ट साधना, बुद्धि-
शय, तीर्थंकर भगवान का योग, चारित्र आदि विशिष्ट कारण, आ
मिलने से गणधर देवों को श्रुत-ज्ञानावरण कर्म का अपूर्व क्षयोपशम
(विशेष प्रकार का नाश) होता है। इससे विश्व के तत्त्वों का प्रकाश
होने से ये बारह अंग (द्वादशांगी) आगम की रचना करते हैं। फिर
सर्वज्ञ प्रभु इसे प्रमाणित करते हैं। बारह अंग ये हैं—आचारांग,
सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ज्ञाताधर्म-
कथा, उपासकदशांग, अंतकृतदशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग, प्रश्न-
व्याकरण, विपाकसूत्र, और दृष्टिवाद । इस दृष्टिवाद में १४ 'पूर्व'
नामक शास्त्रों का समावेश है। वीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात्
करीब हजार वर्ष में दृष्टिवाद आगम का विच्छेद हो गया । अत
शेष ११ अंग + बारहवें अंग पर औपपातिक आदि १२ उपांग +
बृहत्कल्प आदि ६ छेदसूत्र + आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन,
ओघनिर्युक्ति ये ४ मूल सूत्र + नंदिसूत्र और अनुयोगद्वार ये २ + १०
प्रकीर्णक शास्त्र (गच्छाचार पयन्ना आदि) = इस तरह कुल ४५ आगम
आज उपलब्ध हैं।

पचांगी आगम – इस आगम सूत्र पर श्रुतकेवली भगवान
चौदह पूर्वधर आचार्य श्री भद्रबाहुस्वामी ने श्लोकबद्ध विवेचना लिखी
है, यह 'निर्युक्ति' है, उस पर पूर्वधर महर्षि ने श्लोकबद्ध विवेचन
किया है यह 'भाष्य', तीनों के उपर आचार्य भगवतो ने प्राकृत,
संस्कृत विवेचन किया है यह 'चूर्णि' और 'टीका' कहलाती है। इस
तरह सूत्र-निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि-टीका यह पंचागी आगम कहलाता है।

● प्रकरणशास्त्र –इसके सिवाय तत्त्वार्थ महाशास्त्र, जीवविचार,
नवतत्त्व, दंडक, संग्रहणी, क्षेत्र समास, छः कर्मग्रंथ, पंचसंग्रह,
कर्मप्रकृति, देववंदनादिभाष्य, लोकप्रकाश, प्रवचनसारोद्धार, आदि
अनेकानेक प्रकरणशास्त्र बहुश्रुत आचार्यों ने रचे हैं। ● उपदेश-

दूसरा गुणप्रत्ययिक है। यह कितने ही दूर देश काल के रूपी पदार्थ प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

अवधिज्ञान कोई नष्ट होता है, अगर कोई स्थायी रहता है, वे प्रतिपाती और अप्रतिपाती हैं और कोई उत्पत्ति क्षेत्र के वाहर जीव के साथ जा सकता है और कोई नहीं जा सकता, वे अनुगामी और अननुगामी। फिर कोई वढता चलता है, तो कोई घटता, यह वर्धमान और हीयमान। इस तरह छ प्रकार का अवधिज्ञान है।

४. मनःपर्यवज्ञानः—

ढाई द्वीप में रहने वाले सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों ने चिंतन के लिये मनोवर्गणा से वनाये हुए मन को प्रत्यक्ष करने का खास कार्य मन-पर्याय ज्ञान करता है। यह अप्रमादी मुनि-महर्षियों को होता है। इसके दो प्रकार हैं—१ ऋजुमति, व २ विपुलमति। पहले से सामान्य रूप से देखते हैं जैसे यह मनुष्य घड़े का चिंतन कर रहा है, दूसरे से विशेष जानता है, जैसे पाटलीपुत्र का अमुक समय का,अमुक द्वारा वनाया हुआ ऐसे घड़े का चिंतन कर रहा है।

५. केवलज्ञानः—

तीनों काल के सर्व द्रव्यों के सर्व पर्याय को प्रत्यक्ष देख सके वह केवल ज्ञान है। वहा अव विश्व की किसी काल की कोई भी वस्तु का अज्ञान नहीं है, मात्र ज्ञान ही है,अत वह केवलज्ञान कहा जाता है। आत्मा सम्यक्त्व सहित सर्वविरति चारित्र आदि गुणस्थानक पर चढते हुए आगे पहुँच कर शुक्लध्यान से सर्व मोहनीय कर्म का नाश करने पूर्वक समस्त ज्ञानावरण,दर्शनावरण, व अतराय कर्मों का नाश करती है, तव केवलज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान नया कोई वाहर से नहीं आता, पर आत्मा के स्वरूप में वैठा ही है, मात्र उपर आवरण ही

लगा हुआ है। ये ज्यों ज्यों छूटते जाते हैं त्यों त्यों ज्ञान प्रकट होता है। सब आवरण नष्ट होने पर समस्त लोकालोक का प्रत्यक्ष करता हुआ केवलज्ञान प्रगट होता है।

ज्ञान स्वभाव का संबंध ही आत्मा जड़ से अलग सिद्ध होती है। उसके ऊपर के आवरण दूर होता जाता है त्यों त्यों वह ज्ञान स्वभाव प्रकट होता है। ज्ञान दर्पण की तरह ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को पकड़ने का है, व ज्ञेय के अनुरूप परिणमन परिणाम पाने का है। अगर कोई आवरण अब शेष नहीं है, तो स्वतः ही है कि वह ज्ञानस्वभाव त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेय पदार्थों को विषय करता ही है। ऐसा सर्व प्रत्यक्ष ज्ञान जिन्हें होता है वे ही जगत को सत्य तत्त्व और सत्य मोक्षमार्ग बता सकते हैं। वे ही परम आप्त पुरुष कहलाते हैं, और इनके वचन ही अर्थात् आगम प्रमाणभूत होते हैं। इनके वचन का बराबर अनुसरण करने वाले भी आप्त कहलाते हैं आचार्यरूप गणधर महर्षि। इनके आगम प्रमाण हैं।

इस तरह पाँचों ज्ञान प्रमाण हैं। इनमें मतिज्ञान श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण में गिना है, वह पारमार्थिक दृष्टि से। व्यवहार में इन्द्रियों से साक्षात् होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। मति और श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का समावेश हो जाता है।

अनुमान प्रमाण में एक प्रत्यक्ष देखी सुनी आदि वस्तु रूप हेतु द्वारा दूसरी किसी वस्तु का उस देखी-सुनी वस्तु के साथ अवश्य सम्बन्ध होने का निर्णय करने में आता है; उदाहरणार्थ दूर से ध्वजा या शिखर देखकर मंदिर का निर्णय हुआ यह अनुमान है। अनुमान करते वहाँ पहली स्थापना की जाय यह प्रतिज्ञा-वाक्य है जैसे 'पर्वत पर अग्नि है'। इसे सिद्ध करने के लिये हेतु देने में आता है,

उदाहरणार्थ, क्योंकि वहा धुआ देखने में आता है, ये हेतु-वाक्य है। फिर व्याप्ति और उदाहरण वताने में आते हैं, जैसे कि जहा जहा धुआ होता है वहा वहा अग्नि अवश्य होती है, जैसे रसोई में अग्नि विना धुआ नहीं हो सकता है, न घट सकता है। यहा 'विना न हो सके=अविनाभावी, अन्यथानुपपन्न, विना=अन्यथा, न हो (घट) सके =अनुपपन्न। धुआ अग्नि की दृष्टि से अविनाभावी है, अन्यथानुपपन्न है। इस अविनाभाव के अन्यथानुपपन्नत्व को 'व्याप्ति' कहते हैं। अविनाभावी को 'व्याप्य,' और दूसरे संवंधी को 'व्यापक' कहते हैं। धुआ व्याप्य है और अग्नि व्यापक है। व्याप्य-व्यापक के वीच रहने वाली व्याप्ति ज्ञान हो तो व्याप्य पर से व्यापक का अनुमान हो सकता है, अथवा व्यापक के अभाव पर से व्याप्य के अभाव का ज्ञान हो सकता है। व्याप्ति और उदाहरण जानने के वाद उपसहार किया जाता है वह 'उपनय' कहलाता है। उदाहरणार्थ पर्वत में अग्नि व्याप्य धुआ है। फिर निर्णय होता है कि पर्वत में अग्नि है, यह 'निगमन' कहा जाता है। आत्मा, परलोक, कर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय अनुमान प्रमाण से हो सकता है।

● ३१-नय और निक्षेप ●

वस्तु में अनत धर्म रहते हैं। अत वस्तु अनंतधर्मात्मक है, क्योंकि वस्तु में तन्मयभाव से रहने वाले अनेकानेक गुण और विशेषता आदि पर्याय हैं। उपरात यह वस्तु जगत के अनंत पदार्थों के साथ कारणता, कार्यता, सहभाविता, विरोधिता, समानता, असमानता, आदि किसी किसी दृष्टि से सबद्ध होने से उस-उस अपेक्षा से कैसे २ अनेक धर्म इस वस्तु में हैं, उदाहरणार्थ दीप का प्रकाश-इसमें तेज (जगमगाहट) पीलापन आदि गुण हैं। दीप तेल

का, मणिकाल का, घर में रहने वाला आदि विशेषतायें ये पर्याय हैं; इसी तरह अंधकार की विरोधिता, तेज-वाली की कार्यता वस्तुदर्शन की कारणता आदि अपरंपार धर्म इसके हैं।

इन धर्मों में से तथाविध अपेक्षा से किसी धर्म को दृष्टि में रख कर वस्तु का ज्ञान किया जावे वह नयज्ञान है; उदाहरणार्थ मनु अहमदाबाद में रहता है, यद्यपि भारत में भी रहता है, गुजरात में भी रहता है और अहमदाबाद में भी मोहल्ला विशेष (अमुक पोल) में रहता है फिर भी यहाँ दूसरे शहरों की अपेक्षा खास अहमदाबाद का उल्लेख कर के ज्ञान किया है। इस प्रकार मनु के दूसरे धर्म-रंग, ऊँचाई, आरोग्य पढ़ाई आदि भी यहाँ लक्ष्य में नहीं लिये हैं।

वस्तु के अपेक्षा विशेष से निश्चित होने वाले अंश से वस्तु के बोध या तत्सम्बन्धित व्यवहार को नय कहते हैं।

नय जब वस्तु का आंशिक ज्ञान करता है तब यह समझ में आए ऐसा है कि वह उन २ अंशों का ज्ञान किसी दृष्टि बिंदु के हिसाब से करेगा अतः नय को दृष्टि भी कहते हैं। इसके भेद तो जितने वचन-प्रकार हैं उतने हो सकते हैं पर बहुप्रचलित भेद ७ हैं— नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय (सांप्रत), समभिरूढनय और एवंभूतनय।

(१) नैगमनय—प्रमाण वस्तु को समग्ररूप से देखता है सो किसी अपेक्षा की ओर उसकी दृष्टि नहीं है, नय तो वस्तु को उसके अनेक अंशों में से एक अंश के रूप में देखता है। सो उसकी अपेक्षा की तरफ दृष्टि होती है। भिन्न २ अपेक्षा से भिन्न भिन्न नय का ज्ञान होता है। स्थूल अपेक्षा से प्रारम्भ के नैगमादि का और सूक्ष्म २ अपेक्षा से बाद के नयों का ज्ञान होता है।

वस्तु मात्र में सामान्य अंश और विशेष अंश होते हैं, उदाहरणार्थ वस्त्र, अन्य वस्त्र की तरह वस्त्र सामान्य है, पर एक कोट के रूप में वस्त्र विशेष है। इसमें भी फिर यह दूसरे कोट की अपेक्षा सामान्य कोट है।

परन्तु रेशमी कोट के रूप मे कोट विशेष है। इसमे भी अन्य रेशमी कोट के हिसाब मे कोट सामान्य है, पर खास सिलाई वाले के अनुसार वह विशेष है। इस तरह उन २ अपेक्षाओं से वही वस्तु अनेक सामान्य व विशेष रूपों मे जानी जाती है। यह कार्य नैगम नय करता है। नैगम = नैक गम, अनेक बोध, अनेक सामान्य व अनेक विशेष रूप से ज्ञान। वास्तव में एक समय मे एक सामान्य रूप या विशेष रूप से ही ज्ञान होता है।

(२) संग्रहनय --वस्तु को मात्र सामान्य रूप से जानता है। उदाहरणार्थ 'मोह क्यों करते हो ? अंत मे सर्व नाशवान है।' यहा समग्र को एक नाशवान सामान्य के रूप मे जाना, यह संग्रहनय ज्ञान। इस तरह 'वड' कहो या 'पीपल' कहो, 'सब वन है' यह संग्रहनय है।

(३) व्यवहारनय --लोक व्यवहार के अनुसार वस्तु को मात्र विशेष रूप से जानता है। यह कहता है कि अकेले सामान्य रूप से कोई वस्तु नहीं है। जो व्यवहार में है, जो उपयोग मे आती है, वह विशेष ही है, वड, पीपल, ववुल आदि में से कुछ भी न हो, ऐसी वृक्ष जैसी कोई चीज है ? नहीं, जो है वह वड है या पीपल है।

(४) ऋजुसूत्रनय --इससे आगे जा कर ऋजु याने सरल सूत्र से वस्तु को जानता है, अर्थात् वर्तमान और स्व वस्तु को ही वस्तु के रूप में मानता है, उदाहरणार्थ खोई हुई, छीनी हुई नहीं, किंतु वर्तमान में जो मौजूद हो उतने ही धन अनुसार कहा

पर इन्द्रत्व के ऐश्वर्य के साथ विराजमान देवराज को ही इंद्र के रूप में समझ रहा है। इसी तरह भोजन बनाते समय "घी का डिब्बा लाओ" अर्थात् घी से भरा हुआ डिब्बा लाओ, ऐसा कहा जाता है, यह व्यवभूत नय से। (पहले घी भरते थे पर अब खाली है, उस घड़े का बोध यदि इस प्रकार करलिया जाये कि, "यह घी का घड़ा छोटा है" तो यह समभिरूढ नय का ज्ञान हुआ)।

इस प्रकार वस्तु तो वही है फिर भी उसकी भिन्न २ अपेक्षा से अमुक २ निश्चित रूपसे बोध होता है और व्यवहार करने में आता है जो भिन्न २ नय के घर का है। इस प्रकार पदार्थ पर, द्रव्य पर, पर्याय पर, बाह्य व्यवहार पर अथवा आतरिक भाव पर दृष्टि रख कर भिन्न २ नयों का प्रवर्तन होता है इसलिये उक्त सात नयों का सक्षेप शब्द-नय-अर्थनय, या द्रव्यार्थिकनय-पर्यायार्थिकनय, या निश्चयनय-व्यवहारनय, इत्यादि के रूप मे हो सकता है।

निक्षेप:—

एक ही नाम भिन्न २ पदार्थों में प्रयुक्त होता है, उदाहरणार्थ किसी लड़के का नाम राजाभाई रखा गया है तो वह राजा के नाम से संबोधित किया जाता है। इस प्रकार किसी राजा के चित्र को भी राजा कहते हैं। तथा कभी २ राजपुत्र को भी राजा कहते हैं, "यह बाप से सवाया राजा है"। और वास्तव में राजा भी राजा कहलाता है। इस प्रकार 'राजा' शब्द का स्थापन केवल नाम में, आकृति में, द्रव्य में, अथवा राजत्व के भाव में होता है। जैन शास्त्र में इसे निक्षेप कहते हैं, न्यास कहते हैं।

प्रत्येक वस्तु के कम से कम चार निक्षेप होते हैं —नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप। ● (१) नामनिक्षेप-

३२ स्याद्वाद, सप्तभंगी व अनुयोग

जैनदर्शन अनेकांतवादी दर्शन है, परंतु अन्य दर्शनों की भांति
कांतवादी नहीं। एकांत अर्थात् वस्तु में जिस धर्म की बात प्रस्तुत
ो, अकेला वही धर्म होने का निर्णय या सिद्धांत। अनेकांत अर्थात्
ह धर्म होना और दूसरी अपेक्षा से घटमान इसके प्रतिपक्षी धर्म
ी होने का निर्णय या सिद्धांत। जैसे एकांत मत से आत्मा नित्य है,
अर्थात् नित्य ही है, अनित्य नहीं है। जब कि अनेकांत मत से नित्य
ी है, अनित्य भी है, अर्थात् नित्यानित्य है। यह संशयावस्था या
अनिर्णयात्मक अवस्था नहीं है परंतु निश्चित असंदिग्ध अवस्था ही
। क्योंकि दोनों में से जो नित्य है वह निश्चित रूप से अर्थात्
अवश्य नित्य है ही, इसी प्रकार अनित्य भी निश्चित और अवश्य
ही।

प्र०—एक की एक ही वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है,
ह विरुद्ध नहीं है क्या? परस्पर विरोधी धर्म एक साथ कैसे रह
कते हैं?

उ०—वस्तु मूलरूप से बनी रहती है फिर भी अवस्था रूप से
सी नहीं रहती, जैसे सोना सोने के रूप में बना रहता है लेकिन
गडी के रूप में या कंगन के रूप में बना नहीं रहता, यह स्पष्ट दृष्टि
ोचर होता है। अवस्था के रूप में परिवर्तित होता रहता है अर्थात्
अनित्य है। यद्यपि नित्यत्व और अनित्यत्व परस्पर विरोधी हैं पर वे
क ही अपेक्षा से विरोधी होने के कारण साथ नहीं रह सकते, परंतु
भिन्न २ अपेक्षा से एक ही स्थान में साथ रह सकते हैं, इसलिये
विरोधी नहीं है, जैसे पितृत्व व पुत्रत्व वैसे तो विरोधी हैं, परंतु यह

एक ही व्यक्ति की अपेक्षा से सत्य नहीं हो सकते पर भिन्न २ व्यक्तियों की अपेक्षा तो सत्य रह ही सकते हैं। राम केवल एक ही दशरथ की अपेक्षा से पुत्र और पिता दोनों नहीं थे परंतु दशरथ की अपेक्षा पुत्र और लव-कुश की अपेक्षा पिता थे ही न ? अतः राम में पुत्रत्व और पितृत्व दोनों सत्य थे। वस्तु में भिन्न २ अपेक्षा से ही अनेक २ धर्म रहते हैं। इसलिये उस २ धर्म का ग्रहण या प्रतिपादन उस २ अपेक्षा से सत्य हो सकता है उससे विरुद्ध अन्य अपेक्षाओं से नहीं। उस अपेक्षा से तो अन्य धर्म ही रह सकते हैं। इस प्रकार भिन्न २ अपेक्षा से भिन्न २ धर्म एक ही वस्तु में रह सकते हैं। उनमें परस्पर विरुद्ध धर्म भी सत्य हो, जैसे पितृत्व पुत्रत्व। इसलिये एकांत दृष्टि से एक धर्म होने का आग्रह किया जाय तो अनुचित है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु नित्य है, एक है, आदि यह निरपेक्ष रूप से या सर्व अपेक्षा से नहीं किंतु कथंचित् अर्थात् विशिष्ट अपेक्षा से ही है। इस सिद्धांत को कथंचित् वाद, स्याद्वाद कहते हैं। एकांत दृष्टि से नहीं परंतु अनेकांत दृष्टि से ही वैज्ञानिक या लौकिक प्रामाणिक होता है इसलिये अनेकांतवाद का सिद्धांत प्रामाणिक है। जैन दर्शन अनेकान्तवादी है, स्याद्वादी है, सापेक्ष सिद्धांत का आदर करता है अतः वही प्रामाणिक है। आज के वैज्ञानिक प्रोफेसर आइन्स्टाइन को भी बहुत छानबीन के पश्चात् Principle of Relativity सापेक्षवाद का सिद्धांत निश्चित करना पड़ा है।

उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य —

वस्तु मात्र को व्यापक रीति से देखें तभी यथार्थ दर्शन हो सकता है, क्योंकि यह वस्तु अन्य के साथ संबंध रखती है, इसी प्रकार उसमें मूल स्वरूप और नई २ अवस्था में अर्थात् द्रव्यस्वरूप और पर्याय दो स्थितियाँ रहती हैं। द्रव्य रूप से यह ध्रुव रहती है और पर्याय रूप

से उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। वस्त्र का पहले एक थान था, अब कोट, कुर्ता आदि कपडे सिलवाये इसमें वस्त्र द्रव्य रूप से तो बना रहा किंतु थान पर्याय रूप से नष्ट हो गया और कोट-पर्याय आदि रूप में उत्पन्न हुआ। व्यक्ति, क्लर्क पर्याय रूप से मिटकर पदाधिकारी-पर्याय रूप मे परिणत हुआ, तो इसमें व्यक्ति द्रव्य रूप से बना रहा। वस्तु इस क्षण में नई है लेकिन बाद में नई मिटकर पुरानी रूप में होती है परतु वस्तु २ के रूप में तो बनी रही। इस प्रकार वस्तु में पर्याय रूप से उत्पत्ति व विनाश और द्रव्य रूप से ध्रौव्य रहना है।

:: सप्तभंगी ::

द्रव्य मे अनत पर्याय, अनतधर्म होते हैं। वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है। उसमें विशिष्ट २ धर्म विशिष्ट २ अपेक्षा से होते हैं। इन अपेक्षा पर सात प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं और उनका समाधान सात प्रकार से किया जाता है। इन सात प्रकारों को सप्तभंगी कहते हैं। जैसे, घडा एक वस्तु है उसके साथ स्वद्रव्य (उपादान) स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव का सबंध है परतु वे स्व-द्रव्यादि वस्तु के साथ परस्पर मिले जुले रूप से याने अनुवृत्ति रूप से, सम्बद्ध है, अर्थात् यह स्वद्रव्य मिट्टी आदि घटमय हैं। घड़े के साथ परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव का भी संबंध है, परतु ये द्रव्य से भिन्न रूप में याने व्यावृत्ति रूप में, अर्थात् वे घडे से बिलकुल अलग है। किसी एक घड़े का स्वद्रव्य मिट्टी है, स्वक्षेत्र रसोईघर है, स्वकाल कार्तिक मास है और स्वभाव लाल, बडा, कीमती आदि है, इससे विपरीत घडे का परद्रव्य धागा है,

पदार्थ घटमय है परन्तु मार्गशीर्ष मास है परमाणु काला कोष सत्ता आदि है। क्योंकि घड़ा मिट्टीमय है, रसोईघर में है, कार्तिक मास में मालूम है और घड़ा स्वयं लाल है। घड़ा है आदि ये सब स्वद्रव्यादि हुए। जब कि घड़ा धातु का है ही नहीं, धातुके में भी नहीं, मार्गशीर्ष मास में नहीं, काला व्यापि आदि भी है ही नहीं। ये सब के परद्रव्यादि हुए।

अब ये स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि इन दो प्रकार के संबंधियों की अपेक्षा से सात प्रश्न उपस्थित होते हैं:—

(१) घड़ा स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से कैसा है? तो कहा जाता है कि "अस्ति" अर्थात् "सत्"

(२) घड़ा पर-द्रव्यादि की अपेक्षा से कैसा है। "नास्ति" अर्थात् "असत्"।

(३) घड़ा क्रमशः स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि की अपेक्षा से कैसा है? "अस्ति" और "नास्ति" अर्थात् सदसत्।

(४) घड़ा एक साथ दोनों अपेक्षाओं से कैसा है? अवक्तव्य" अर्थात् जिसका परिचय न दिया जा सके ऐसा। क्योंकि यदि सत् कहें तो वह दोनों अपेक्षाओं से तो सत् है नहीं। इसी प्रकार असत् भी नहीं है। इसी तरह सत्-असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि दोनों संयुक्त अपेक्षा से न तो सत् है न असत्। तथा अकेले स्वद्रव्यादि की अपेक्षा असत् नहीं व अकेले परद्रव्यादि की अपेक्षा भी सदसत् नहीं, अतः एक साथ दोनों की अपेक्षा क्या कहना यह विचारणीय बन जाता है, अर्थात् अवाच्य है।

(५) घड़ा क्रमशः स्वद्रव्यादि और युगपत् अपेक्षा से कैसा है? "अस्ति" (सत्) और अवक्तव्य।

(६) घडा क्रमश परद्रव्यादि और उभय अपेक्षा से कैसा है ? "नास्ति" (असत्) और अवक्तव्य।

(७) घडा क्रमश स्वद्रव्यादि, परद्रव्यादि और उभय अपेक्षा से कैसा ? अस्ति, नास्ति (सत्-असत्) और अवक्तव्य।

साराश यह है कि घडे में अस्तित्व, नास्तित्व (सत्व-असत्व) दोनों धर्म होते हैं परन्तु भिन्न २ अपेक्षा से होते हैं। जिस काल में सत् है, उसी काल में असत् भी है,भले प्रसगवश अकेला सत् कहें तो भी यह मानकर कि वह असत भी है ही। इसका अर्थ यह है कि जो सत् कहते हैं वह विशिष्ट अपेक्षा से। इस 'अपेक्षा से' का भाव सूचित करने के लिये 'स्यात्' पद प्रयुक्त होता है। इस लिये कहा जाता है कि घड़ा स्यात् सत् है परन्तु सत तो निश्चित है ही, यह निश्चितता सूचित करने के लिये 'एव' पद प्रयुक्त होता है। ('एव' = ही) अत अन्तिम प्रतिपादन यह है कि घडा स्यात् सत् एव, 'घडा कथचित् (अपेक्षा से) सत् है ही, इस प्रकार 'स्यात् असत् एव' घड़ा कथचित् (अपेक्षा से) असत् है ही' आदि शेष प्रतिपादन होते हैं जिसे सप्तभंगी कहते हैं।

ऐसी सप्तभंगी सत् असत् की भाति 'नित्य-अनित्य' 'बड़ा-छोटा' 'उपयोगी-निरुपयोगी' "कीमती-साधारण" आदि लेकर होती है, वहा सर्वत्र भिन्न २ अपेक्षाए काम करती है। घडा द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है ही। इस प्रकार छोटे घड़े की अपेक्षा बडा, और कोठी की अपेक्षा छोटा है ही। पानी भरने की अपेक्षा उपयोगी और घी या दूध भरने की अपेक्षा निरुपयोगी है ही।

अपेक्षा का उल्लेख न भी करें तो भी वह अध्याहार से समझनी चाहिये। इसलिये सापेक्ष कथन सत्य सिद्ध होता है, निरपेक्ष नहीं।

शुद्धिपत्रक

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
जै०प्रा० १	८	जन	जैन
६	२२	धम	धर्म
२०	८	का है ?	क्या है ?
७४	१६	५ दर्शनावरण	९ दर्शनावरण
८१	२५	प्रशसा	प्रशंसा
८३	३	वाला	वाले
८५	२२	किया	किया जा
८६	१४	प्राधवाने	प्राधवानै
	१६	सवेग	संवेग
९१	८	हो जाता है तथा	होते समय
१००	१७	आपत्तियें	आपत्तिया
१०४	२०	विघ्नों	विघ्नों को
११३	१४	प्रबलत	प्रबलता
११८	३	घाद	वाद
१४०	८	रोद्रध्यान	रौद्रध्यान
१६३	२६	वहुश्रत	बहुश्रुत

अनुयोग

अनुयोग अर्थात् व्याख्यान अथवा निरूपण। जैन शास्त्रों में अनेक विषयों पर व्याख्यान मिलते हैं। इनको चार विभागों में विभाजित किया जा सकता है इसलिए मुख्य चार प्रकार के अनुयोग हैं।

१ द्रव्यानुयोग—अर्थात् जिसमें जीव पुद्गल आदि द्रव्यों का निरूपण है, जैसे—कर्मशास्त्र सम्मति-तर्क आदि लोकप्रकाश प्रज्ञापनासूत्र तत्त्वार्थ महाशास्त्र...।

गणितानुयोग—अर्थात् जिसमें गिनती क्षेत्रफल माप आदि का वर्णन है, जैसे—सूर्यप्रज्ञप्ति, क्षेत्रसमास...।

३. चरणकरणानुयोग—अर्थात् जिसमें चारित्र और उसके आचार विचारों का वर्णन है, जैसे—आचारांग निशीथ आदि।

४. धर्मकथानुयोग—अर्थात् जिसमें धर्म प्रेरक कथाओं-दृष्टान्तों का वर्णन है, जैसे—ज्ञाताधर्मकथा-आगम समरादित्य केवलीचरित्र...।

समास

शुद्धिपत्रक

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
ई०प्रा० १	६	जन	जैन
६	२२	धम	धर्म
१०	४	का है ?	क्या है ?
५२	१६	५ दर्शनावरण	९ दर्शनावरण
८१	२४	प्रगमा	प्रशमा
८३	३	घाला	घाले
८४	२२	फिया	फिया जा
८६	१४	प्राधवाने	प्राधयानै
	१६	सवेग	संवेग
९१	८	हो जाता है तथा	होते समय
१००	१७	आपत्तियें	आपत्तिया
१०४	२०	विघ्नों	विघ्नों को
११३	१४	प्रबलम	प्रबलता
११७	३	बाद	बाद
१२०	८	रोद्रध्यान	रौद्रध्यान
१६३	२६	बहुश्रत	बहुश्रुत